पाण्डुलिपि विज्ञान

(मई 1983 में सम्पन्न पाण्डुलिपि विज्ञान सम्बन्धी कार्यशाला में
पढ़े गये निबन्धों का संग्रह)

सम्पादिका : डा॰ वेद कुमारी घई
यू॰ जी॰ सी॰ नैशनल फैलो,
प्रोफैसर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय

प्रकाशक एवं वितरक :
विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान,
173, रघुनाथपुरा जम्मू तवी ।

सन् 1986

मुद्रक :
सुदेश प्रिन्टर्ज़,
हरि सिंह नगर, रिहाड़ी कालोनी
जम्मू–180 001

विषय-सूची

सम्पादकीय

यह लघु पुस्तक विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान जम्मू-कश्मीर प्रदेश जम्मू प्रान्तीय शाखा द्वारा भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के सहयोग से 6 मई 1983 से 20 मई 1983 तक जम्मू में समयोजित पाण्डुलिपि-संरक्षण-सम्पादन प्रशिक्षण कार्यशाला में दिए गये भाषणों का संग्रह है। इस कार्यशाला में बीस शोध छात्राओं ने पाण्डुलिपियों के संरक्षण, सम्पादन, प्राचीन भारतीय लिपियों के विकास तथा प्रतिमा विज्ञान के विषय में प्रशिक्षण प्राप्त किया। कार्यशाला के लिए स्वीकृत अनुदान का कुछ अंश जो बाद में प्राप्त हुआ उसी से इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान जम्मू की ओर से मैं भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के प्रति आभार प्रकट करती हूं।

जम्मू नगर में विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान का प्रथम विशाल सम्मेलन 14 मार्च 1981 को हुआ था जिसमें हजारों की संख्या में उपस्थित संस्कृत प्रेमी जगत ने देश में संस्कृत को सुदृढ़ करने का संकल्प किया था। डा. कर्ण सिंह, डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पण्डित गुलामदस्तगीर, श्री माधव डिग्वेकर आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने देश में एकता की भावना तथा नैतिकता लाने के लिए संस्कृत के प्रसार की आवश्यकता पर बल दिया था। इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में भारत सरकार से प्रार्थना की गई थी कि शिक्षा प्रणाली में संस्कृत अध्यापन को उचित स्थान दिया जाए। पुरातत्व, पर्यटन, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि विभागों में नियुक्ति के प्रत्याशियों के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य रखा जाए। विदेशों में भारतीय दूतावासों के कर्मचारियों तथा भारतीय राजदूतों के लिए संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन पर संस्कृत के कार्यक्रमों को अधिक समय देना चाहिए। जम्मू कश्मीर सरकार से अनुरोध किया गया था कि कश्मीर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग खोला जाए, जम्मू में आयुर्वेद महाविद्यालय को पूर्ववत् चलाया जाए, विद्यालयों में पूर्ववत् छटी श्रेणी से संस्कृत [illegible] वैकल्पिक भाषा के रूप में पढ़ाने की छूट दी जाए तथा राज्य में संस्कृत अकादमी की स्थापना की जाए। इकबाल पीठ वत् जम्मू-कश्मीर में अभिनवगुप्त पीठ तथा कल्याण पीठ की स्थापना की जाए। जनता से प्रार्थना की गई थी कि मठों-मन्दिरों में संस्कृत पाठशालाओं को चलाने की व्यवस्था करवाए तथा कटरा में वैष्णवी पीठ नाम से कन्या गुरुकुल की स्थापना की जाए जिसमें देवियों को उच्चस्तर की संस्कृत शिक्षा दी जाए।

यह हर्ष का विषय है कि कश्मीर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग खोल दिया गया है। हमें आशा करनी चाहिए कि जम्मू-कश्मीर की जागरूक जनता संस्कृत की उन्नति के लिए पारित शेष प्रस्तावों को भी क्रियान्वित कराने में सहयोग प्रदान करेगी।

विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान जम्मू द्वारा 21 अक्तूबर 1982 को प्रान्तीय सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसकी अध्यक्षता डा. कर्ण सिंह जी ने की थी। अन्तःविद्यालयीय संस्कृत-समूहगान

प्रतियोगिता का आयोजन भी किया गया जो सफल रहा। विचार गोष्ठी की अध्यक्षता राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली के संग्रहपाल डा. चन्द्रभान पाण्डेय ने की।

1983 में पण्डित गुलामदस्तगीर के सम्मान में एक संस्कृत गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी प्रधानता तत्कालीन जिलाधीश श्री जलील खान ने की। संसत्सदस्य श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त को भी सम्मानित किया गया।

दिसम्बर 1983 में आधुनिक सन्दर्भ में "गीता का महत्व" इस विषय पर विद्यालयों तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की परिचर्चा आयोजित की गई जिसकी अध्यक्षता पुलिस अधीक्षक श्री रामप्रकाश ने की।

जून 1985 में दशदिवसीय संस्कृत भाषण प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसका उद्घाटन श्री वैद्य विष्णुदत्त ने किया तथा समापन समारोह की अध्यक्षता जिलाधीश श्री एस. एस. वलौरिया ने की। शिविर में लगभग साठ लोगों ने संस्कृत में बोलने का अभ्यास प्राप्त किया। इस प्रकार विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान संस्कृत को केवल विद्वानों तक ही सीमित न रख कर इसे सामान्य जनता तक पहुंचाने का प्रयास भी कर रहा है।

संस्कृत भाषा हमारी संस्कृति की आधारशिला है। भारतीय आधुनिक भाषाओं को संस्कृत ही समृद्ध बना सकती है। इस दृष्टि से संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन और अनुसन्धान को बढ़ावा देने की आवश्यकता है।

–वेद कुमारी घई

मई 1983 में सम्पन्न पाण्डुलिपि विज्ञान सम्बन्धी कार्यशाला



On Chair L to R —Dr. Bal Ji Nath Pandit. Dr B. K. Shastri. Sh. Mool Raj Shastri. Dr. Ved Kumari Ghai. (*H.O.D. Sanskrit J.U*) Prof. M. R. Puri. (*Vice-Chancellor*) Dr. G. M. Battacharya. Dr. Murli Dhar Pandey. (*Principal, Vidya Peeth*) Dr. Champa Sharma. Dr. Veena Gupta. Dr. S. N. Sharma Dr. Ram Pratap. Dr. Uma Raman Jha.

Standing I Row —Sarvshri Dwarka Nath. Jagdanand Pandey. Shyam Lal Raina. Ram Krishan Shastri. Lakshmi Dutt Shastri. Sharda Pandey. Satya Bhama Rajdan. Sushma Sharma. Kiran Bala. Nirdosh Kumari. Vijaya Lakshmi. Geeta Khajuria. Kanchan Prabha. Tripta Sharma. Archana Kesar. Neeru Sharma.

Standing II Row —Kedar Nath Sharma B. L. Sharma. Jyoti Prakash. Govind Ram Sharma. Chander Dev Vasishath. Lal Singh Chib.

विश्व संस्कृत प्रतिष्ठान

एक परिचय

संस्कृत अध्ययन और भारतीय परम्पराओं के प्रति निरन्तर बढ़ती हुई अरूचि समस्त जगत के संस्कृतानुरागियों के लिए चिन्ता का विषय है। यदि संस्कृत अध्ययन की दशा न सुधारी गई तो शायद हमारी संस्कृति और वैज्ञानिक ज्ञान का शाश्वत स्रोत क्षीण हो जायेगा ऐसी आशंका दिनोदिन बढ़ती जा रही है। हमारे विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत भाषा उपेक्षित हो गई है। इस कारण पाठशालाओं में छात्रों की संख्या घटती जा रही है। यदि समय रहते संस्कृत के संरक्षण के लिए सामूहिक प्रयास नहीं किया गया तो देश की चिरन्तन श्रेष्ठ परम्परा का विनाश सम्भव है।

श्री अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी की श्रीमाँ के शताब्दी वर्ष में यूनेस्को के प्रस्ताव के अनुसार तत्कालीन भारत के उपराष्ट्रपति श्री वा० दा० जत्ती महोदय की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई जिसने देश और विदेश में 100 संस्कृत सम्मेलनों का आयोजन किया। 25 जनवरी 1979 को प्रयाग में एक विश्व संस्कृत सम्मेलन हुआ जिस सम्मेलन में देश और विदेश से पधारे हुए विद्वानों और संस्कृतानुरागी सदस्यों ने संस्कृत के उत्थान के लिए संस्कृत संस्थाओं की अधिष्ठात्री संस्था के रूप में विश्व संस्कृत प्रतिष्ठानम् की स्थापना की।

श्री अरविन्द सोसाइटी इस प्रतिष्ठान की मूल संस्था है जिसका केन्द्रीय कार्यालय पाण्डीचेरी (वेदपुरी) में है।

केन्द्रीय पदाधिकारी

अध्यक्ष—काशीराज विभूतिनारायण सिंह–काशी

उपाध्यक्ष— श्री पं० गुलामदस्तगीर. भारत
श्री दयानन्द वसन्तराय, मारीशस
श्री जया फिलियोजा, फ्रान्स
प्रो० श्री कैलाशनाथ कुरूक्कुल, श्रीलंका
पं० श्री अम्बिका प्रसाद अधिकारी, नेपाल

महामन्त्री— श्री माधवापाण्डुरंग डग्वेकर, दिल्ली

विश्व संस्कृत प्रतिष्ठान का कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित है :-

1. प्रतिवर्ष राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलनों का आयोजन करना ।
2. तीन वर्षों में एक बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करना ।
3. संस्कृत भारत में बोलचाल की भाषा के स्तर तक विकसित हो एतदर्थ रचनात्मक प्रयत्न करना ।
4. बहुत सी भाषाओं या भाषा समूहों में उनके व्याकरण के अनुकूल संस्कृत का पाठ्यक्रम तैयार करना ।
5. अपेक्षानुसार देश के हर वर्ग, श्रेणी तथा भाग के लोगों में संस्कृत और भारतीय संस्कृति में समन्वय स्थापित कर उन्हें सगठित करना ।
6. अपने क्षेत्र में 40 घटे में सरल संस्कृत की शिक्षा का वर्ग चलाकर संस्कृतानुरागी वर्ग तैयार करना ।
7. विश्व संस्कृत प्रतिष्ठानम् की शाखाएं खोलकर इसके उद्देश्यों के अनुरूप संगठन और सहयोग की अपील करना ।
8. संस्कृत विरोधी गतिविधियों के विरूद्ध जनमत तैयार करना और संस्कृत को शिक्षा में अनिवार्य स्थान दिलाना ।
9. जगह-जगह एतदर्थ संस्कृत गीत, नाटक तथा अन्य प्रचार माध्यमों से सहकार स्थापित कर व्यावहारिक संस्कृत का प्रसार करना ।
10. इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक सहयोग प्राप्त कर उनका संस्कृत के व्यावहारिक प्रयोग में विनियोग करना ।

नि[illegible] वेद कुमारी घई
(अध्यक्ष)

मंत्री :- उमारमण झा
विश्व संस्कृत प्रतिष्ठानम्
जम्मू ।

पाण्डुलिपि संरक्षण-प्रशिक्षण

संस्कृत शिक्षित स्नातकों एवं शोधकर्त्ताओं से सम्वन्धित विभिन्न व्यवसायों की प्रारम्भिक जानकारी देकर परम्परागत संस्कृत छात्र-छात्राओं को प्रशिक्षित करने के उदयेश्य से विश्वसंस्कृतप्रतिष्ठानम्, जम्मू शाखा द्वारा एक अल्पकालिक पाण्डुलिपि संरक्षण-सम्पादन-प्रशिक्षण पाठयक्रम 6-5-1983 ई० से दो सप्ताह के लिए श्री रघुनाथ मन्दिर के प्राङ्गण में स्थित श्री रणवीर अनुसन्धान पुस्तकालय के भवन में आयोजित किया गया।

इस प्रशिक्षण में निम्नलिखित विषयों का व्यावहारिक अध्ययन विश्लेषण सम्पन्न हुआ।

1. पाण्डुलिपियों का संरक्षण एवं क्रमवद्ध सूची का निर्माण एवं अनुक्रमणिका ग्रन्थसूची-संयोजन, आलोचनात्मक संस्करण।
2. शिलालेखविद्या एवं प्राचीन उत्कीर्ण लेखों का अध्ययन।
3. प्राचीनमुद्रालेखों का अध्ययन
4. प्रतिमा विज्ञान।

निम्नलिखित विद्वानों ने इसमें भाग लिया :

1. डा० मुरलीधरपाण्डेय-प्राचार्य, श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, शास्त्रीनगर, जम्मू।
2. डा० के० वी० श[illegible]र्वनिदेशक, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर।
3. डा० गोपिका मोह[illegible] स[illegible]र्य-संस्कृतविभागाध्यक्ष, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र।
4. डा० वेद कुमारी घई-संस्कृत विभागाध्यक्ष, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।
5. डा० रामप्रताप-प्रवाचक, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।
6. डा० शम्भुनाथ शास्त्री-प्रवाचक, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।
7. डा० गंगादत्तविनोद, प्राचार्य, संस्कृत महाविद्यालय, जांगला, हिमाचल प्रदेश।
8. डा० उमारमणझा, दर्शनविभागाध्यक्ष, श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू।
9. प० रामकृष्णशास्त्री "अव्यय"-पुस्तकालयाध्यक्ष।

10. डा० चम्पा शर्मा-निदेशक, डोगरी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू ।

11. डा० बालकृष्ण शास्त्री-पुस्तकालयाध्यक्ष, श्री रणवीर अनुसन्धान पुस्तकालय, जम्मू ।

12. डा० राधवप्रसाद चौधरी-प्रवाचक, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू ।

इस कार्यक्रम का उद्घाटन जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० एम० आर० पुरी के कर कमलों द्वारा हुआ । प्रमुख अतिथि डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य जी थे । इस कार्यक्रम में सहयोग करने वाले सभी महानुभावों को धन्यवाद है ।

डा० वेद कुमारी घई
(अध्यक्ष)

डा० उमारमण झा
(मन्त्री)

पुस्तकदान

डा० के. बी. शर्मा (होशियारपुर)

1. प्राचीन भारतीय परम्परा में विद्यादान का बहुत महत्व है ।

विद्यया वर्तते लोको धर्माधर्मं च विन्दति ।
तस्माद् विद्या प्रदातव्या दृष्टादृष्टफलार्थिभिः ॥
श्रृण्वतां जायते भक्तिस्ततो गुरूमुपासते ।
सर्वविद्यामया भक्तिः विद्यायुक्ताश्रिता नृप ॥
विद्या विवेकबोधेन शुभाशुभविचारणात् ।
विन्दते सर्वकामाप्तिं तस्माद् विद्या वरा मता ॥
विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परमकारणम् ॥
शिल्पविद्यां नरो दत्वा याति वै ब्रह्मणोऽन्तिकम् ।
कालविद्यां नरो दत्वा वैष्णवं लोकमश्नुते ॥
कल्पमेकं न सन्देहः स्वर्गभोगसमन्वितः ॥
तस्यविद्यां नरो दत्वा तृप्तिमान् कामसंयुतः ।
प्रजापतिपुरं गच्छेन्नर[illegible] तारयेत् पितॄन् ॥
आयुर्वेदं नरो दत्वा [illegible]नोति निर्मलान् ।
आयुर्लोको दिव्यकाया[illegible] स[illegible] मन्वन्तर नरः ॥
तर्कविद्यां नरो दत्वा वारूणं लोकमाप्नुयात् ॥
मीमांसां तु बुधे दत्वा शास्त्रमिन्द्रपुरे भवेत् ॥
धर्मशास्त्रं नरो दत्वा स्वर्गलोके महीयते ।
दशमन्वन्तरान् मर्त्यः तारयेन्नरकात् पितॄन् ॥
वेदविद्यां नरो दत्वा स्वर्गे कल्पत्रयं वसेत् ।
आत्मविद्यां नरो दद्यात् तस्य संख्या न विद्यते ।
पुण्यस्य गदितुं सम्यगपि वर्षशतायुतैः ॥
एलावच्छकयते वक्तुं यत्कल्पायुतमुत्तमम् ॥

सत्यलोके वसेन्मर्त्यो यत्र ब्रह्मा वसेत् प्रभुः ॥
अप्येकं नीरूजीकृत्य जन्तुं यादृशतादृशम् ।
आयुर्वेदप्रभावेण किं न दत्त भवेद् भुवि ॥
सत्य वेदप्रदनेन सम्पन्ना सस्यशालयः ।
किं नाम न कृतं तत्र पुण्यं भवति शाश्वतम् ।
मींमांसाशास्त्रमाहात्म्याद् बुध्वा वै वेदनिर्णयम् ।
किं न नाम शुभं दातुर्यज्ञकर्मप्रवर्तनात् ॥

कृत्यकल्पतरू प० 20 –218

2. पुस्तकदान में लेखक का चयन करते हुए निम्न गुणों का ध्यान रखा जाता था। उसे वेद का ज्ञान होना चाहिए। छन्दों के लक्षणों का ज्ञान होना चाहिए। उसे एकदम अर्थ स्पष्ट होना चाहिए, उसे शीघ्र लिखने वाला होना चाहिए, उसके अक्षर स्पष्ट होना चाहिए। सभी शास्त्रों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए। ऐसा लेखक उत्तम होता है। (चाणक्य नीति)

देवीपुराण में कहा है कि लेखक छन्द का ज्ञाता शास्त्रों में पारंगत, तथा प्रनष्ट अक्षर को स्मरण करके लिखने में समर्थ होना चाहिए। लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरू में कहा है कि लेखक के हाथ और भुजाएं उसके वश में होने चाहिए। उसका ध्यान मषीपात्र में (अर्थात लिखने मात्र में) लगा रहना चाहिए। उसका अकेले बैठने का स्वभाव होना चाहिए।

ब्राह्मणानं वेद सम्पूर्णच्छन्दोलक्षणमायतान्
सकृदथग्रहीतार्थी लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्र समालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ॥
तथा सम्पूजयेद् वत्स लेखकं शास्त्रपारगम् ।
छन्दोलक्षण तत्त्वज्ञं सत्कविं मधुरस्वरम् ।
प्रणष्टं यः स्मरेद् ग्रन्थं श्रेष्ठं पुस्तकलेखने ॥
निरोधी ह्रस्वबाहुश्च मषीपात्रावधारणा ।
एकान्तस्योपकरणे यस्यास्यौ लेखकोत्तमः ॥

3. **लेखन सामग्री**

मूल पुस्तक जैसी खाली कापी जो ताडपत्रों या भोजपत्रों से बनी हो। वो एक आकार के हो। लेखनी, मषी, पुस्तकाधार (डैस्क)। पक्के रग की स्याही आदिः

श्रीताडपत्रके सन्चे समे तु पत्र सन्चके ।
कुर्याच्च पुस्तकं तस्य लिखदङ्गुलविस्तृतम् ॥
सूक्ष्माक्षर च रम्यं च कृष्ण में चकांकितं तु वा ॥
अथवा रक्तयदनाभं मेंचकालङ्कृत शुभम् ।

कार्पाससूत्रग्रथितं नानागन्धाधिवासितम्
मषीभिश्चाप्यनेकाभिश्चारुवर्णाभिरेव वा ।
दृढस्तम्भनयुक्ताभिर्मेचकैं श्चाप्येनकशः ।।
लेखनीभिश्च दिव्याभिर्हेमचित्राभिरेव च ।
बहिश्च वर्णं कुर्वीत पुस्तकस्य मनोरमम्

4. लेखन स्थान

मनोरम, एकान्त, सफेदी दिया हुआ साफ सुथरा होना चाहिए। धूपादि से सुगन्धित हो। गोमय से लिप्त हो, पुष्प भूषित हो। मध्य में हाथीदान्त की चौकी होती हो। चौकी पर मूल पुस्तक तथा आलोच्य पुस्तक रखे। पुस्तक पूजा जलरहित पुष्पों से करे।

अतिरक्तकपासर्वा सुनिवद्धं सुचित्रितम् ।
रम्यं लघु सुविस्तीर्णं निः श्रान्तग्रन्थिसंयुतम् ।
विद्याधारं ततो यन्त्रस्थापितं पूर्वपुस्तकम् ।।
गृहे मनोरमे गुप्ते सुधालेपितभित्तिके ।
नानारागाङ्गतोतेते सुरविम्बमनोरमे ।
धूपामोदमनाज्ञे च वितानकपरिष्कृते ।।
पूर्वोत्तरे पलवे देशे सर्ववाधाविवर्जिते ।
गोमयेन शुभेनैव कुर्यान्मिण्डालकं बुधः ।
आलेख्यमपि तत्रैव पूजयेद विधिना ततः ।।
निरूदकैस्तथा पुष्पैः कृमिकीटविवर्जितैः ।।
चन्दनेन सदर्पेण भस्मना च विधूतये ।।

5. पुस्तक का लेखन [illegible]

शुभ दिन शुभ वस्त्र में नहा धोकर पुष्प सज्जित होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके तूर्यघोष से पितरो की देवों की पूजा केर के ब्राह्मणों को स्वस्तिवाचन देकर प्रारम्भ में पांच दस श्लोक लिखे। फिर अगले दिन लिखना शुरू करके यथा समय सम्पूर्ण करें।

शुभे नक्षत्रदिवसे शुभे चापि दिनग्रहे ।।
लेखयेत् पूज्य देवेशान् रूद्रब्रह्मजनार्दनान् ।।
पूर्वदिग्वदनो भूत्वा लिपिज्ञो लेखकोत्तमः ।।
लेखको बुद्धिमान् स्नात : शुक्लपुष्पाम्बरोज्ज्वल : ।।
सुवर्णमुक्ताकेयूरो–मुद्रिकाशोभिताङ्गुलिः ।।

सुसमिदे मषीभाण्डे लेखनीशास्त्रसंयुते ।
प्रारभेत् तूर्यघोषेण पूज्य देवान् पितृंस्तथा ॥
ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्यादौ शास्त्रं सञ्चारयेद् बुध : ।
श्लोकपञ्चकमादौ तु दशकं वापि लेखनम् ॥
ततो नक्षत्रयोगेन द्वितीयेऽहनि तल्लिखेत् ।
तादृशेनैव विधिना पुण्याहैः शुभसंयुतैः ।
नतः समाप्ते शास्त्रे तु पुनः पुण्याहसंयुतम् ।
कुर्याछ्च्च तदहोरात्रे पानभोजनवस्तुभिः ॥

6. **लिखने के बार संशोधन कार्य**

किसी वाचक की सहायता से लिखित प्रति का संशोधन करे उन दोषों को सावधानी से देखे अक्षर का छूटना, अक्षर का अधिक लिखा जाना मात्रा अनुसान विसर्ग आदि का छूट जाना

समाधान

सूत्र ग्रन्थ में कुछ छूटा होने पर सूत्रात्तर को देख ले। यदि सूत्र ग्रन्थ न हो तो पूर्व उत्तर भाग का सामान्य अर्थ ध्यान रख ले। पूर्व पक्षउत्तर वक्ष को ध्यान में रख ले। यहां प्रति लेखक को स्वतन्त्रता दी गई है। लिखने के पश्चात् लिखाने वाले को पुस्तक सुरक्षित रखने को दे दे अथवा देवालय में रखवा दें

ऊनाधिकैश्च संयुक्तं वर्णैर्मात्रादिभिस्तया ।
अनुस्वारविसर्गैश्च युक्तायुक्तैर्विचारयेत् ॥
शास्त्रस्यच क्रिया युकत्या पुनरूक्त्या च शोधयेत् ।
नानाधर्थोक्तया प्रसङ्गस्य शब्दयोग्यतया तथा ॥
सूवन्तरानुरोधेन प्रश्नोत्तरविशेषतः ॥
असूत्रत्वाच्च शास्त्रस्य समुदायार्थबोधतः ॥

7. पुस्तक दान से पूर्व बहुत से लोगों के सामने पुस्तक पाठ किया जाए इसमें पूर्व रथ में रखकर जलूस निकाला जाए ।

वाचक के गुण–विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न स्वर लय का प्रयोग उमे ज्ञात होना चाहिए ।
वाचको ब्राह्मणः प्राज्ञः श्रुतशास्त्रो महामनाः ।
अभ्यस्ताक्षरविन्यासो वृतशास्त्रविशारदः ॥
शब्दार्थवित्प्रगलभश्च विनीतो मेधया युतः ॥
गीतज्ञो वाक्पटुः श्रव्यस्वरो नाविलभाषकः

हयशीर्ष पञ्चरात्र केअनुसार–लेखक को नृपति तथा कारक को सुनना चाहिए अन्यथा लिख-कर स्थापित कर देना निष्फल होगा।

वाचयेत् श्रावयेद विद्वान् नृपतिं कारकं तथा।
एवं लिखेद् वाचयित्वा पुस्तकं विष्णुतत्परः॥
अन्यथा निष्फलं ज्ञेय लिखिते स्थापिते ह्यपि॥

8. दानपात्र–जो योग्ये हो, सदाचरी हो, वेदह हो चौकी लेखनी भी दी जाए पुस्तकास्तरण।

अनेनैव विधानेन ब्राह्मणे शीलशालिनि।
प्रवोधयति धीयुक्ते युक्तिज्ञे वेदवादिनि।
विन्यसेद् तु शुभ्र शास्त्रं महापुण्यजिगीषया॥
शास्त्र सद्भावविदुषे वाचके च प्रियवदे।
वस्त्रयुग्मेन संवीतं पुस्तकं प्रतिपादयेत्॥
येऽपि यत्र मषीपात्रे लेखिनी सम्पुटादिकम्।
दधुः शास्त्राभियुक्ताय तेऽपि विद्याप्रदायिनाम्॥
यान्ति लोकान् शुमान् मर्त्याः पुण्यभाजो महाधियः
विद्यार्थिने सदा दद्यात् वस्त्रमभङ्गभोजनम्।
छत्रिकामुदकं दीप मस्मात्रेन विना न हि॥
लेखनी घटने तीक्ष्ण मषीपात्र च लेखनीम्।
दत्वा तु लभते वत्स विद्यादानमनुत्तमम्॥
पुस्तकास्तरणं दत्वा सुप्रमाणं सुशोभनम्।
विद्यादानमवाप्नोति तत्र रक्ष्यतु बुद्धिमान्॥
यन्त्रं रक्षासन चैव दण्डासन मथापि वा।
विद्यादानं सुशीलाय दत्तं भवति राज्यदम्।

पुस्तक सूची निर्माण

डा० बालकृष्ण शास्त्री

पुस्तक का इतिहास :-

यह इतिहास प्रागैतिहासिक काल से आरम्भ होता है। भारत, चीन, जापान और कोरिया में भोजपत्र, रेशम, चमड़ा पर खुदे हुए प्राचीन लेख लिखे जाते थे। बेबेलोनिया (5500 वर्ष पूर्व) में पत्थर या लकड़ी पर खुदे प्रतीकों को गीली मिट्टी पर दाब कर और उसे सुखाकर प्रतिलिपियां तैयार की जाती थीं। रोमन लोग पापाइरस से बने कागज पर मेमनों की खाल पर गाय बछड़े की शोधित खाल पर भी प्रतिलिपियां बनाते थे, वे लोग नरकट या लोहे की कलम से लिखा करते थे। चीन में मिट्टी या धातु की मोहरें भी बनाई जाती थीं। थारत में खुदे या लिखे हुए पत्रों को डोरे से बांधा जाता था

भोजपत्रों की पुस्तकं भारत, चीन, रोम, मिस्र और यूनान में 300 ई० तक चली। इसके बाद पुस्तकों ने नया रूप धारण किया। चीन में 105 ई० में कागज़ का अविष्कार हुआ। लुन नामक व्यक्ति ने लिनन या छालटी नामक कपड़े की धज्यियों से लुगदी तैयार की और लकड़ी के ढांचे में उसे ढाल कर कागज के तख्ते तैयार किये। उसपर, लकड़ी के खुदे हुए ब्लाकों से छपाई का काम चीन कोरिया, और जापान में शुरू हुआ। संसार की सबसे पुरानी पुस्तक "हीरक सूत्र" चीन में 767 ई० में ब्लाकों से छपी थी। धीरे धीरे कागज के खण्डो पर ब्लाकों से छाप का तैयार किया गये पन्नों को पुस्तकाकार में छापा जाने लगा। यही आधुनिक पुस्तक का प्रारूप था।

प्राचीन युग में ताड़पत्र और भूर्ज पत्र पर ग्रन्थ लिखे ज[illegible]। ग्रामों और वनों में गुरूकुल होते थे। कुलपतियों के पास निज़ी पुस्तकालय होते थे [illegible] पुस्तकों का प्रयोग गुरू लोग करते थे। शिष्यों के लिए इन पुस्तकालयों का प्रयोग सीमित होता था। शिष्यों को वेद, वेदांग अर्थात शिक्षा, कला, व्याकरण ज्योतिष, धनुर्वेद, आयुर्वेद, दर्शन, साहित्य, अलंकार आदि की शिक्षा दी जाती थी। 600 ई० पूर्व में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ इन सम्प्रदायों का भारतीय शिक्षा और पुस्तकालयों पर भी प्रभाव पड़ा। अहमदाबाद, पूना, पटना, सूरत और नासिक जैसे नगरों में आज भी बौद्ध और जैन ग्रन्थों के बड़े बड़े पुस्तकालय हैं। दक्षिण के लगभग पांच पुस्तकालयों से भी ताड़पत्रों पर लिखित अनेक पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई हैं। बौद्धकाल में नालदा और तक्षशिला विश्वविद्यालय थे। इनमें विशाल पुस्तकालय थे जिन में लाखों ग्रन्थ अध्ययनार्थ उपलब्ध थे। 500 ई० पूर्व के नालदा विश्वविद्यालय का वर्णन मिलता

है। इसके रत्नोदधि रत्नसागर और रत्नरंजनम् तीन भाग थे। इन भागों में विषयानुसार ग्रन्थ सुरक्षित थे। फाहियान, इयूनत्साङ और हतसाङ जैसे चीनी यात्रियों ने इन पुस्तकालय का वर्णन किया है। कई विदेशी इस विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। कई विदेशी यात्री यहां से हस्तलिखित ग्रन्थों के भंडार अपने देशों को अपने साथ ले गए। बौद्धों के कमजोर हो जाने पर कई आक्रान्ताओं ने इस पुस्तकालय पर कुदृष्टि डाली किन्तु सब 1205 ई० में बख्त्यार खिलजी ने इसे पूर्णतः भस्मसात कर दिया। बख्त्यार खिलजी ने सुप्रसिद्ध विक्रमशिला और वलभी के पुस्तकालयों को भी जलाकर राख कर दिया था।

मुसलमानों के शासनकाल में भी भारत में पुस्तकालय विद्यमान थे। कइयों की स्थापना मुस्लिम शासकों ने की थी नगरकोट का प्रसिद्ध पुस्तकालय महमूदखाने स्थापित किया था। सम्राट अकबर के पुस्तकालय में 25000 ग्रन्थ सुरक्षित थे। इसका पुस्तकालय आज भी विद्यमान है जिसमें 18 हजार से अधिक पुस्तकें केवल संस्कृत की हैं। कश्मीर में चश्माशाही के पास परीमहल के खडरात है, वास्तव में यह विशाल पुस्तकालय था जिसकी स्थापना शाहजहां के सुपुत्र दाराशिकोह ने की थी।

पुस्तकालयों में पुस्तकों को अध्ययनार्थ तत्क्षण उपलब्ध कराने लिये पुस्तक सूची की ग्रन्थ सूची की आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना पुस्तक या ग्रन्थ को भंडार में से ढूंढ याकालना अत्यन्त कठिन है।

1. एक्सेशन रजिस्टर या पुस्तकागमन पत्रिका
   व्युत्पति, लक्षण तथा स्वरूप–उदाहरणों से कथन की पुष्टि

2. कैटलाग–ग्रन्थ सूची–पुस्तक तालिका
   व्युत्पति, लक्षण तथा स्वरूप। पुस्तक सूची तथा ग्रन्थ सूची

3. कैटलाग एवं बिब्लि[illegible]ग्राफी पुस्तक तालिका और पुस्तक सूची में भेद

4. पुस्तक तालिका के आ[illegible]र–
   (क) अकारादिक्रम से नामानुसार :- 1. पुस्तक नाम 2. विषय नाम कर्त्तृ नाम
   (ख) निर्धारित सीसा (ग) उद्देश्य (घ) वर्गीकरण (ङ) भौलिक आधार (च) ग्रन्थ प्रकार

5. कैटलाग के प्रकार
   क) ग्रन्थ नाम निर्देशिका (ग्रन्थ तालिका) (Title Catalogue)
   ख) एकपंक्ति पुस्तक तालिका (One Line Catalogue)
   ग) वर्णनात्मक पुस्तक तालिका (Descriptive Catalogue)

पाठालोचन

डा० शम्भुनाथ शास्त्री

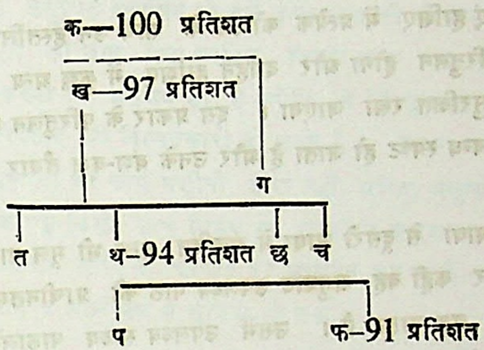
अध्ययन अध्यापन की मौखिक परम्परा होने के कारण प्राचीन विद्वान् प्राय: लिखने की ओर कम ही ध्यान देते रहे। आचार्य एवं विद्वान् कवि सदा यही चाहते हैं कि उनके ग्रन्थ विद्वानों के कंठहार–"सतां कण्ठाभूषणाम्"–बने रहें। यही कारण है कि कई विद्वान् अपना नाम भी स्थापित नहीं करना चाहते थे, दूसरे के नाम से ही अपनी रचना विद्यार्थियों द्वारा कण्ठस्थ करा देते थे। इसीलिये व्यास के नाम से कितनी ही रचनाओं का उल्लेख मिलता है। मूललेखकों को इसी में संतोष था कि उनकी रचना पढ़ी जा रही है। इस तरह मूलपाठ में प्रक्षेपांशों की भरमार हो गई है, जिसके लिये आज पाठालोचन प्रणाली का आविर्भाव हुआ। "पाठ" से अभिप्राय किसी भाषा में रचित ऐसे अर्थपूर्ण ग्रन्थ से है, जो अन्वेषक को न्यूनाधिक रूप में ज्ञात हो और जिसके विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा जा सकता हो। किसी मूल पाठ के स्वरूप-निर्धारण के प्रसग में स्वीकृत विधि-विहित प्रक्रिया को "पाठालोचन" कहते हैं।

लौकिक साहित्य की प्रतिदरप्रति का क्रमिकपरम्परा तथा वंशवृक्ष के आधार पर विचार करना ही पाठालोचन का विषय है प्रतियों की परस्पर दूरी को जांचना, शाखा के आधार प्रादेशिक शैलियों की विविधता को देखना, मूल प्रति तक पहूंचने में जितने साक्ष्य प्राप्त हो सक–इन सव पर विचार कर आदर्श प्रति या मूलप्रति तक पहुंचना ही पाठालोचन का उदेश्य है।

पाठ-परम्परा अथवा पाठों के प्रकार :

पाठ परम्परा के सुसम्बद्ध इतिहास के अभाव में यह जानना अत्यन्त कठिन है कि किन परिस्थितियों में लेखकों द्वारा स्वहस्तलिखित अथवा उनके आधार पर तत्काल या कालान्तर में तैयार की गई प्रतिलिपियां भारत अथवा विदेशों के हस्तलिखित ग्रन्थालयों में उपलब्ध हो सकी हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि कालिदास भवभूति जैसे कवियों का समय विवाद-ग्रस्त है। आज तो प्रतिलिपियां अनेक हस्तलेखों से होकर उपलब्ध हैं। पाठालोचन का मुख्य उद्देश्य तो शिलालेखों अथवा पाठों के दुरूपयोग से उत्पन्न अथवा ऋतुप्रभाव अथवा पत्थर काटने वालों की भूल से पहुंचाई गई क्षति को दूर करना है।

जैसा कि हम जानते हैं, प्रतिलिपियां पत्थर या धातु पर नहीं, अपितु, भूजपत्र, ताड़पत्र अथवा कागज पर तैयार की जाती थीं, जो समय के साथ साथ नष्ट होने की स्थिति में हो जाती थीं और फिर उनसे और प्रतिलिपियां-इस प्रकार क्रम चलता रहा होगा। जो ग्रन्थ विशेष लोकप्रिय या महत्वपूर्ण होते थे, उनका विशेष ध्यान रखा जाता होगा। लेकिन समय के साथ उनमें परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन आदि प्रतिलिपिकार प्रायः करते रहते होंगे। इस तरह हम मूलग्रन्थ से हटते जाते हैं। यह कहना कठिन है कि कितनी बार की प्रतिलिपियों के माध्यम से अमुक पाठ आज हमें उपलब्ध है। अगर हर बार प्रतिलिपि में दो या तीन प्रतिशत अशुद्धियां हो तो स्थिति की भयानकता सम्मुख आ जाती है



आज के मुद्रणालयों के कंपोजिटरों के साथ प्राचीन प्रतिलिपिकारों की तुलना करें तो बात साफ हो जाएगी। पहले प्रूफ में, यांत्रिक साधनों के बावजूद अशुद्धियाँ रह जाती हैं। प्राचीनकाल में तो ऐसे कोई यांत्रिक साधन भी नहीं थे, दोनों मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में जो अशुद्धियां रह जाती हैं, उनके दो कारण प्रसिद्ध हैं– (1) चाक्षुष (2) मनोवैज्ञानिक। कम्पोजिटर अथवा प्रतिलिपिकार न्यूनाधिक मात्रा में ये दोनों प्रकार की अशुद्धियाँ करेगा। चाक्षुष अशुद्धियों में मूल शब्द के स्थान पर प्रतिस्थानी शब्द रखना, शब्द छोड़ना या शब्द संवर्धन है, जबकि मनोवैज्ञानिक अशुद्धियों में प्रतिलिपिकार का किसी शब्द का गलत अर्थ लगाना या आदर्श प्रति की अशुद्धियों का अनुकरण करना आदि शामिल हैं।

सुबोधशैली, स्पष्टता तथा संगति का अभाव या कई बार व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां अत्युतम रचनाओं से भी पाई जाती हैं, तो फिर साधारण प्रतिलिपियों का तो कहना ही क्या। अधिकांश अशुद्धियां लेखक या प्रतिलिपिकार की असावधानी के कारण होती हैं। यदि हस्तलिखित बृहत् हैं, तो प्रतिलिपि तैयार करने में एक से अधिक प्रतिलिपिकारों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अनेक प्रतिलिपिकारों का मनोविज्ञान पाठ-परम्परा के अध्ययन को जटिल बना देता है। कर्क भाषा के प्रतिलिपिकार की ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता, बुद्धिमता एवं सावधानी ही प्रतिलिपि की विश्वसनीयता सिद्ध करती है।

पाठालोचन के कुछ मूलभूत अंग—

कौशलयुक्त एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया से जहाँ तक संभव हो सके किसी पाठ का उसके मूलस्वरूप के अनुरूप निर्धारण करने में मानव बुद्धि का उपयोग करना ही पाठालोचन का मुख्य उद्देश्य है। मूलरूप से हमारा अभिप्राय ग्रन्थकर्ता द्वारा मूलरूप में लिखित ग्रन्थ के स्वरूप से है।

जब किसी ग्रन्थ की समीक्षा करनी हो तो किसी एक संस्करण को आधारभूत मान कर कविता के एक एक पद को ईकाई मान कर, उन्हें स्पष्टरूप से वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठकों में पृथक्-पृथक् कागज पर ऊपर वाले हिस्से में लिखना चाहिए। जिन पदों में भेद होगा, उन्हें कागज के नीचे वाले हिस्से में सम्बन्धित पद के नीचे वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठकों में लिखना चाहिए। कागज के बाएं हाशिए में प्रत्येक कोष्ठक के साथ उन हस्तलिखित प्रतियों का नाम होगा, जिनका मिलान या परितुलन होगा और दाहिने हाशिए में कुछ अन्य अतिरिक्त जानकारी लिखने के लिये खाली स्थान सुरक्षित रखा जाएगा। इस प्रकार के परितुलन से विभिन्न हस्तलिखित प्रतिलिपियों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और उनके वंश-वृक्ष तैयार हो जाता है।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित ग्रन्थ भी मूल पाठ के निर्धारण में सहायक हो सकते हैं। और अगर कहीं वह अनुवाद उपलब्ध पाठ की प्राचीनतम प्रति से भी पुराना हो, तो उसका महत्व और भी बढ़ जाता है। उसमें उपलब्ध साक्ष्य पाठालोचक के साधन के रूप में अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण होंगे। संस्कृत के महायान ग्रन्थों की रचनाओं का तिब्बती और चीनी भाषाओं में प्राचीन काल में किया गया अनुवाद, अत्यधिक साक्ष्यसामग्री उपलब्ध कराता है।

प्राचीन ग्रन्थों के अन्यग्रन्थों में दिये गये संक्षिप्त रूप तथा अनुकूलित रूप भी मूल ग्रन्थ के पाठों के आंशिक निर्धारण में सहायक होते हैं। उदाहरणतः क्षेमेन्द्ररचित भारत-मंजरी महाभारत के काश्मीरी संस्करण पर प्रकाश डालती है।

प्राचीन टीकाएं—भी इन कार्य में सहायक हो सकती हैं। कई बार मूलपाठ को पूर्ण या आंशिक रूप में अथवा साहित्यिक वादविवाद के रूप में उद्धृत किया जाता है, तो इस प्रकार का उदाहरण भी मूलपाठ निर्धारण में सहायक सिद्ध होता है।

जिस ग्रन्थ का लेखक एक व्यक्ति न होकर, सम्प्रदाय के लोग हों जैसे महाभारत, पुराणादि तो उसकी विविध कथाएं तथा उनके अन्य ग्रन्थों में मिलने वाले समानान्तर पाठ से भी मूलपाठ के सशोधन में सहायता मिलती है। जैसे-महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान पद्मपुराण में भी उपलब्ध होता है।

किसी ग्रन्थ में उद्धृत या समाविष्ट स्रोतों का पता लगाना कठिनतम कार्य है। पाठालोचक जब तक लेखक के ग्रन्थों के अतिरिक्त, अन्य साक्ष्यों के आधार पर, मानसिक अथवा बौद्धिक प्रतिभा से परिचित न हो, अथवा जिस विषय का ग्रन्थ है और जिस विषय के उदाहरण या संकेत ग्रन्थ में मिलते हैं, उस विषय पर पूर्ण अधिकार न रखता हो, तब तक यह कार्य कठिन ही लगता है। या पाठालोचन की अन्तिम अवस्था है। इसके लिये विशिष्ट योग्यता, अध्ययन और प्रयास की आवश्यकता है।

पाठों में विभिन्न प्रकार की भ्रष्टता कैसे आ जाती है–

हस्तलिखित ग्रन्थों का समुचित अध्ययन ही हमें उनके पाठ की विश्वसनीयता की ओर ले जा सकता है। हमें उन कारणों को जान लेना चाहिए, जिनके द्वारा पाठ में भ्रष्टता आ जाती है। त्रुटियों का वर्गीकरण करना तो असंभव सा है क्योंकि वे ऐच्छिक या आकस्मिक भी हो जाती हैं, और इनके कारण परिवर्तन भी विस्मयकारी हो उठते हैं। इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि पाठपरम्परा में प्रतिलिपिकरण का कार्य मशीनों द्वारा नहीं, अपितु, मनुष्यों द्वारा होता था। सम्पादक के लिये आवश्यक है कि वह किसी ग्रन्थ विशेष का सम्पादन आरम्भ करने से पहले उसके कालक्रम, क्षेत्र विशेष की लेखक-शैली आदि के आधार पर अध्ययन कर भूलों का क्रमबद्ध विवरण तैयार कर ले, जिससे पाठ निर्धारण व आलोचन में सुविधा हो सके।

डा० कात्रे ने अशुद्धियों के लिये कुछ कारण बताए हैं।

1. **विभ्रान्तियां**

(1) समान वर्ण और अक्षरों के सम्बन्ध में भ्रान्ति। (2) समानरूपता के आभास से शब्दों को अशुद्ध लिखना। (3) सक्षिप्त रूपों में मिथ्यार्थ लगाना। (4) अशुद्ध समास या विग्रह। (5) शब्दों के अन्त्याक्षरों को अशुद्ध रीति से मिलाना और एक शब्द को दूसरे वाक्य में मिलाना। (6) वर्णों, शब्दों एवं वाक्यों का क्रम परिवर्तन, वाक्यों, खण्डों एवं पृष्ठों का विस्थापन। (7) प्राकृत अथवा आधुनिक भाषाओं में सस्कृत सम्अशुद्ध प्रयोग अथवा उनका सस्कृत में अशुद्ध लेखन। (8) उच्चारण भेद के कारण। (9) अंकों में भ्रान्ति। (10) नामवाचक संज्ञाओं में भ्रान्ति। (11) अपरिचित शब्दों के स्थान पर परिचित पयार्य देने के कारण (12) पुरानी वर्तनी के स्थान पर नवीन वर्तनी। (13) क्षेपक या अनजाने में हुई भूलों को सुधारने का प्रयास।

2. **लोप**

(14) एक ही शब्द या अक्षरों से आरम्भ तथा अन्त होने वाले शब्दों को छोड़ देना। (15) अक्षर लोप, या वैसे ही सामान्य लोप अर्थात् छूट जाना। (16) निकटस्थ शब्द या पाठ की पुनरावृति। (17) दो पंक्तियों के बीच या हाशिया में टिप्पण आदि जोड़ देना, (व्याख्यात्मक भी)।

(18) प्रक्षिप्त पाठ या प्रक्षेप। (19) एक ही प्रकार की लिखावट के प्रभाव के कारण पाठ में अभिवृद्धि हो जाना आदि।

3. वृद्धि

कुछ उदाहरण देकर इन अशुद्धियों को समझा जा सकता है।

इन अशुद्धियों को प्रतिलिपि करने वाले लिपिक की कल्पनाशक्ति के आधार पर, स्वेच्छिक, अर्द्धस्वेच्छिक या अनैच्छिक श्रेणियों में रखा जा सकता है।

विश्व संस्कृत प्रतिष्ठान
व्यावहारिक संस्कृत प्रशिक्षण
प्राचीन पाण्डुलिपियों की परिक्षण विधि

—डा० रामप्रताप

1. पाण्डुलिपियों के प्रकार

प्राचीनकाल में लिखाने के लिए पट (रेशमी या सूती वस्त्र) फलक (पट्टा लकड़ी का तख्त काष्ठ-फलक) चर्म, धातु पत्र (ताम्र पत्र या लौह पत्र) शिलाखंड श्रौर ताड़पत्र श्रौर भोजपत्रों का प्रयोग किया जाता था। लगभग 4000 वर्ष पहले से लेकर 10 वीं शताब्दी तक इन्हीं वस्तुश्रों का प्रयोग किया जाता रहा। श्रधिकतर पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ ताड़पत्रों श्रौर भोजपत्रों में मिलते हैं। 10 वीं शताब्दी के बाद कागज़ का श्रविष्कार होने पर यह ग्रन्थ हाथ से बनाये गये कागजों पर लिखे जाने लगे।

2. पाण्डुलिपि की संख्या–

लगभग 5 लाख संस्कृत, प्राकृत तथा पाली के हस्तलिखित ग्रन्थ भारत की 215 संस्थाश्रों में सुरक्षित हैं। लगभग एक लाख जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, जापान, श्रीलंका, श्रौर नेपाल की लगभग 40 संस्थाश्रों में रखे हुए हैं। लगभग 90000 हस्तलिखित ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द (वाराणसी) संस्कृत विश्व-विद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में हैं; लगभग 40000 केरल-विश्व-विद्यालय, त्रिवेन्द्रम में हैं। सस्कृत कॉलेज मैसूर में 65000 हस्तलिखित ग्रन्थ श्रौर सरस्वती महल लाइब्रेरी, तञ्जौर में 14000, श्रडयार लाइब्रेरी मद्रास में 20000 श्रौर मद्रास गवर्नमेंट लाइब्रेरी में 30000 हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। श्रन्य पुस्तकालयों का भी विवरण इस प्रकार है–एल० डी० इन्स्टीच्यूट श्रहमदाबाद–45000, बड़ौदा श्रोरियण्टल इस्टीच्यूट 25000, भण्डारकर श्रोरियण्टल इंस्टीच्यूट 18000, डेक्कन कॉलेज 11000, भारत इतिहास सशोधन मडल 18000, वैदिक सशोधन मण्डल 10000, श्रनु श्रान्दाश्रम 8000, नागपुर यूनिवर्सिटी 14000, राजस्थान श्रोरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट 20000, जैन ग्रथालय बीकानेर 30000, जयपुर 12000, गगानाथ झा इस्टीच्यूट

इलाहाबाद 20000, रघुनाथ टेम्पल लाइब्रेरी जम्मू तथा कश्मीर विश्वविद्यालय 8000, मिथिला इंस्टीच्यूट 8000, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता 9000। इस प्रकार भारत स्थित मुख्य संस्थाओं तथा अन्य छोटी बड़ी संस्थाओं में लगभग पांच लाख हस्तलिखित ग्रंथ हैं।

इन ग्रन्थों की सूची 19 वीं और 20 वीं शती में सर विलियम जोन्स तथा लेडी जोन्स, पी० के० गोडे प्रभृति विद्वानों ने बनाई है। डा० वी० राघवन ने लगभग 400 हस्तलिखित ग्रन्थ सूचीपत्रों के आधार पर आफ्रेट निर्मित कैटेलोगस कैटेलोगोरम का संशोधित रूप न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम अभी हाल ही में प्रकाशित किया है। इन सूचीपत्रों के आधार पर तथा संस्कृत कमीशन एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को रिपोर्टों के प्रमाण से 5 लाख हस्तलिखित ग्रन्थों का देश में तथा एक लाख हस्तलिखित ग्रंथों का विदेश में होने का अनुमान किया जाता है।

इसके अतिरिक्त बहुत सारे विद्वानों एवं अन्य व्यक्तियों, मठों, मन्दिरों और पाठशालाओं में भी लगभग 5 लाख हस्तलिखित ग्रंथों के होने के अनुमान है। इस प्रकार वर्तमानकाल में लगभग 10 लाख हस्तलिखित ग्रन्थ सस्कृत भाषा से सम्बद्ध है। मुसलमान शासकों ने अकबरनामा, शाहनामा जैसे ग्रंथों की रचना स्वयं की तथा अन्य विद्वानों से करवाई। इस प्रकार हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि में लिखते हुए ग्रन्थों की संख्या भी हजारों में है। आज इन सभी ग्रन्थों को कैसे सुरक्षित रखा जाए यह एक बड़ी भारी समस्या है।

3. हस्तलिखित ग्रन्थ संरक्षण विधि

आज जैसे पुरातत्ववेता पाषण मूर्तियों, सिक्कों और ईंट पत्थरों का उत्खनन करके उनके आधार पर अनुसन्धान करते हैं इसी प्रकार भारतीय विद्या के प्रेमियों को हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, संग्रह और संरक्षण करना चाहिए। इन ग्रंथों को दान भेंट में ग्रहण करके अथवा खरीद कर बड़े पुस्तकालयों में सुरक्षित रखवा देना चाहिए। केवल सुरक्षा भर से काम नहीं चलेगा। संग्रहीत ग्रंथों का विवरणात्मक सूचीपत्र तैयार करके उसे छपवा दिया जाए। जो ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं उनके आलोचनात्मक संस्करण निकालने की आवश्यकता है। बहुत सारे प्रकाशित ग्रंथों के भी आलोचनात्मक संस्करण निकालने चाहिए जिनमें पहले की त्रुटियों का निवारण हो जाए।

4. संरक्षण विधि

तैलाद् रक्षेज्जलाद् रक्षेद् रक्षेच्छिथिल बन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्यमेवं वदति पुस्तकम्॥

तेल, जल तथा टूटी जिल्द से पुस्तक की रक्षा करे। मूर्ख के हाथ में न दी जावे यह बात पुस्तक कहती है।

संपोष्यं सदपत्यवत् परकरात् रक्ष्यं च सुक्षेत्रवत् ।
संशोध्यं व्रणितांगवत् प्रतिदिनं वीक्ष्यं च सन्तिभवत ।
वध्यं वध्यवर श्लथं दृढ़गुणैः स्मर्य हरेनमिवत् ।
मैवं सीदति पुस्तकं खलु कदाच्येतद् गुरुणं वचः ।।

अपने प्यारे बच्चे की तरह सजाई जानी चाहिए, अपनी गुणवती पत्नी की तरह रक्षित की जानी चाहिए, शरीर के घायल अंक की तरह प्रतिदिन देखी जानी चाहिए। कैदी की तरह मजबूत रस्सियों (धागों) से बांधी जानी चाहिए। ईश्वर के नाम की तरह याद की जानी चाहिए। यह पूर्वजों और महापुरुषों की ओर से कहना है कि इन बातों पर यदि ध्यान दिया जाय तो हस्तलिखत ग्रंथ नष्ट नहीं होता है।

अनुशीलित ग्रन्थसूची

1. दी वैल्थ आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्टस इन इण्डिया एण्ड एब्रोड–के० टी० पांडुरंग, बंगलौर 1978

2. प्रिज़र्वेशन आफ लाइब्रेरी मैटिरियल्स, आरकाइव्स एण्ड डोक्यूमेण्ट्स–वी० बी० मुखर्जी दि वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लिमिटेड कलकत्ता, 1973

3. रिपयेर एंण्ड प्रिजर्वेशन आफ रिकार्डस नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया–नई दिल्ली–1978 ।

प्राचीन पाण्डुलिपियां की प्रति संस्कार विधि

डा० राम प्रताप

प्रति संस्कार शब्द के लिए (लेमिनेशन) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ मरम्मत करना, सुधारना और संवारना है। प्राचीन लेखन वस्तुयें तथा प्राचीन पाण्डुलिपियां निम्न रूपों में मिलती हैं–

1. पट-सूती या रेशमी कपड़ा–इसके ऊपर राजशासक अर्थात् राजा की ओर से किसी प्रकार की आज्ञा या दान की घोषणा लिखवाई जाती थी।

2. काष्ठ फलक–लकड़ी के तख्ते या पट्टे के ऊपर चित्र या लेख अंकित करने का प्रचलन था। रत्नावली आदि संस्कृत नाटकों में चित्रफलक शब्द का प्रयोग है।

3. शिलाखण्ड–शिलाओं पर चित्र भी बनाये जाते थे और लेख भी लिखे जाते थे। मेघदूत की त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां इन पंक्तियों से गैरिक से शिलाखण्ड पर चित्र बनाने का उल्लेख है। अशोक ने बहुत शिलाखण्डों पर अपनी आज्ञायें तथा उपदेश लिखवाये थे।

4. धातुपत्र–ये ताम्रपत्र और लोह स्तम्भ के रूप में मिलते हैं। मन्दिरों की दीवारों और दरवाजों पर ताम्रपत्र जड़ दिये जाते थे और कुतुबमीनार के पास समुन्द्रगुप्त का एक लोह स्तम्भ है जिस पर अक्षर अंकित है।

5. तालपत्र तथा भूर्जपत्र–दक्षिण भारत में तालपत्र तथा उत्तर भारत में भूर्जपत्र और भूर्जत्वक् के ऊपर कुरेद कर लिखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं।

6. कागज–10 वीं शताब्दी में तालपत्र से कागज का प्रचलन हुआ। इस बीच में तालपत्र और भूर्जपत्र पर भी लिखाने का क्रम जारी रहा। आज भारत, अमरीका, ब्रिटेन और आस्ट्रिया आदि देशों में ऐसे बोण्ड पेपर तैयार किए जा रहे हैं जो अपेक्षाकृत बहुत समय तक टिकाऊ रहते हैं।

रक्षा के उपाय

तैलाद् रक्षेज्जलाद्रक्षेद् रक्षेच्छिथिलबन्धनात् ।
मूर्खहस्ते न दातव्यमेतद् वदति पुस्तकम् ।।

1. तेल और जल से रक्षा

यहां तेल और जल से पुस्तक की रक्षा करने की बात कही है। वदस्तुतः यहां तेल और जल उन सभी पाण्डुलिपि विनाशक तत्वों से तात्पर्य हैं जिनसे हस्तलिखित ग्रन्थों को हानि पहुंचती है। विशेष रूप से यहां जल शब्द से मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश इन सब चीजों से बचाकर पुस्तकों की रक्षा करनी चाहिए-ऐसा तात्पर्य है। लेखन के प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं को खराब कराने वाली ये पांच चीजें, अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं। लाइब्रेरियों में स्थित पुस्तकों के ऊपर मिट्टी की धूल और धुओं की धूल जम कर ग्रंथों को खरांब कर देती हैं। सीलन भरी और सीधी धूप पड़ने वाली जगह पर रखी हुई पुस्तकों की आयु बहुत कम हो जाती है। आज खुली हवा तथा खुले आकाश में पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकें बच ही नहीं सकतीं। अत्युष्ण और अतिशीत वातावरण, अत्यत वातावरण और तेज़ाब से भरी गैस से युक्त वातावरण में इन पुस्तकों की दुर्दशा हो जाती है। न केवल पुस्तकों के कागजों के लिए ये द्रव्य हानिकारक हैं अपितु इनमें स्थित जिल्द के गत्ते, धागों और कपड़ों को भी ये हानि पहुंचाते हैं। जिन पुस्तकालयों में वातानुकूलित व्यवस्था है, वहां भी ग्रंथों के खराब होने का डर रहता है। वस्तुतः इन पुस्तकों को भी ताजी हवा और सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता रहती है।

2. प्राकृतिक साधनों का प्रयोग

इन हस्तलिखित ग्रन्थों को कभी २ खुली हवा और खुले प्रकाश में रखना चाहिए। खुली अलमारियों में रखते हुए इनको ये दोनों चीजें प्राप्त होती रहती हैं। ग्रंथों को बारीक और खुले बुने हुए भीगे कपड़ों में लपेटना चाहिए।

3. सावधानी के साथ रक्षा

इन ग्रथों को खोलते समय बहुत धीरे २ खोलना चाहिए। रखते समय बिा मोड़े रखना चाहिए। इनके अध्ययन से अनेक अज्ञात तथ्य तथा अनेक विद्यायें प्रकाश में आ सकती हैं। विद्या के क्षेत्र में नई स्फूर्ति, प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त होगा।

हमारे देश में अनगिनत ग्रन्थों की रचना तो हुई किन्तु बहुत बड़ी संख्या में इनका विनाश भी हुआ है। प्राकृतिक आपदातओं, आपसी इर्ष्या, द्वेष, अज्ञान, गुण्डेपन, विद्वानों का आपद्ग्रस्त होकर स्थानांतरण आदि ऐसे अनेक कारण हैं जिनके कारण इन ग्रंथों को अपार क्षति पहुंची है।

विशेष रूप से 12 वीं, 13 वीं शताब्दी के अनेक तुर्क और मुस्लिम शासकों ने नालन्दा और विक्रमशिला के बड़े २ पुस्तकालयों की लाखों पुस्तकें जला डाली थीं। उत्तर भारत के और भी बहुत से पुस्तकालय जला डाले थे। उस समय के विद्वान आनन्दतीर्थ ने इस विनाश को देखकर महाभारत तात्पर्य निर्णय में लिखा है–

उत्सन्नाः प्रायशः सर्वे कोट्यंशो न विद्यते (अध्या० 2) प्रायः सारे ही ग्रंथ समाप्त हो गए हैं। इनका करोड़वां अंश भी नहीं बचा है। उन दिनों शिक्षा केन्द्रों, मठों और विहारों का बड़े व्यापक रूप में विध्वंस किया गया था। इनके विनाश के साथ-साथ हस्तलिखित पुस्तकें भी नष्ट होती रहीं। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत दोनों ही भागों की बहुत-सी पुस्तकें ऐसी नष्ट हुईं जिनका एक संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ।

वर्तमान काल में भी देश की सामान्य जनता और शिक्षित वर्ग दोनों की ओर से ही हस्तलिखित ग्रंथों की ओर अपेक्षावृत्ति वरती जा रही है। जिनके पास हस्तलिखित ग्रंथ होते हैं वे उनके बारे में पूछने पर उन्हें दिखाते नहीं हैं। उन ग्रंथों की स्वयं भी सुरक्षा नहीं देते और न ही दूसरों को देते हैं। उन्हें दान भेंट में भी नहीं देते और न ही उन्हें बेचते हैं। अनपढ़ स्त्रियां इन पुराने ग्रन्थों को या तो चूल्हे में डाल देती हैं या उन्हें जला कर उनकी टोकरी बना डालती हैं। बहुत से लोग धन के लोभ से विदेशियों को बेच डालते हैं। कभी २ अधिक पैसे कमाने के लालच में एक ही ग्रन्थ के कई टुकड़े करके विभिन्न स्थानों पर बेच डालते हैं।

4. हस्तलिखित ग्रन्थ संरक्षण विधि

आज जैसे पुरातत्ववेत्ता पाषाण मूर्तियों, सिक्कों और ईंट पत्थरों का उत्खनन करके उनके आधार पर अनुसन्धान करते हैं। इसी प्रकार भारतीय विद्या के प्रेमियों को हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, संग्रह और सरक्षण करना चाहिए। इन ग्रंथों को दान भेंट में ग्रहण करके अथवा खरीद कर बड़े पुस्तकालयों में सुरक्षित रखवा देना चाहिए। केवल सुरक्षा भर से काम नहीं चलेगा। सग्रहीत ग्रंथों का विवरणात्मक सूचीपत्र तैयार करके उसे छपवा दिया जाए। जो ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं उनके आलोचनात्मक संस्करण निकालने की आवश्यकता है। बहुत सारे प्रकाशित ग्रंथों के भी आलोचनात्मक संस्करण निकाले जाने चाहिए जिनमें पहले त्रुटियों का निवारण हो जाए।

5. संरक्षण विधि

तैलाद् रक्षेज्जलाद् रक्षेद् रक्षेच्छिथिल बन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्यमेवं वदति पुस्तकम् ॥

तेल, जल तथा टूटी जिल्द से पुस्तक की रक्षा करे। मूर्ख के हाथ में न दी जावे यह बात पुस्तक कहती है।

सपोष्यं सदपत्यवत् परकरात् रक्ष्यं च सुक्षेत्रवत्।

संशोध्यं व्रणितांगवत् प्रतिदिनं वीक्ष्यं च सन्तिभवत्।

वध्यं वध्यवर श्लथं दृढ़गुणैः स्मर्यं हरे र्नामवत्।
मैवं सीदति पुस्तकं खलु कदाप्येतद् गुरुणां वचः

अपने प्यारे बच्चे की तरह सजाई जानी चाहिए, अपनी गुणवती पत्नी की तरह रक्षित की जानी चाहिए, शरीर के घायल अंग की तरह प्रतिदिन देखी जानी चाहिए। कैदी की तरह मजबूत रस्सियों (धामगों) से बांधी जानी चाहिए। ईश्वर के नाम की तरह याद की जानी चाहिए। यह पूर्वजों और आप्तपुरुषों की ओर से कहना है कि इन बातों पर यदि ध्यान दिया जाए तो हस्तलिखित ग्रंथ नष्ट नहीं होता है।

अनुशीलित ग्रन्थसूची

1. दी वैल्थ आफ संस्कृत मेन्यूस्क्रिप्टस इन इण्डिया एण्ड एब्रोड–के० टी० पाडुरगी बंगलौर 1978

2. प्रिजर्वेशन आफ लाइब्रेरी मैटिरियल्स, आरकाइव्स एण्ड डोक्यमेण्ट्स–वी० वी० मुखर्जी दि वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लिमिटेड कलकत्ता, 1973

3. स्पियेर एण्ड प्रिजर्वेशन आफ रिकार्डस नेशनल आर्काइव्स आफ इंडिया–नई दिल्ली, 1978

प्रतिमा विज्ञान

श्री मुरलीधर पाण्डय

निराकारं भजन्त्यन्ये नराकारं तथापरे ।
वयं शास्त्रैकनिष्णाताः नीराकार मुपास्महे ।।

कुछ लोग परमात्मा को निराकार–आकार से रहित रूप में उपासना करते हैं, कुछ लोग नराकार अर्थात् रामः कृष्ण, शिव तथा दुर्गा आदि के रूप में उपासना करते हैं और कुछ शास्त्र-निष्णातपण्डित नीराकार अर्थात जलरूप में उपासना करते हैं। यह जल रूप परमात्मा गंगा जी है।

अनादिकाल से सम्पूर्ण विश्व में अपने से बड़े किसी महान् शक्तिमान् या महती शक्ति के प्रति अपनी लघुता प्रदर्शित करने की अथवा आदरभाव या श्रद्धाभाव प्रकट करने की परम्परा रही है। यही परम्परा काल क्रम से और देशभेद से प्रतीकोपासना तथा प्रतिमोपसना की आधार-शिला बनी। इसका विकास प्रथम प्रीतकोपासना और विभु में इसी प्रतीक का सुन्दर विकसित रूप प्रतिमा है। अतः प्रतिमाविज्ञान के वर्णन से पूर्व प्रतीक विज्ञान पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक होता है। प्रतीक का अर्थ होता किसी वस्तु के प्रति किसी एक निश्चित वस्तु, वर्ण, रूप, रेखा तथा ध्वनि आदि की कल्पना करना। उदाहरण के लिए रेखागणित या बीजगणित में किसी कोण विशेष को "क" वर्ण से अभिहित करना किसी कोण विशेष को "ख" वर्ण विशेष से अभिहित करना। अर्थात् व्यवहार के लिए "क" और "ख" की संज्ञा देना। बीजगणित में भी किसी अंक विशेष की मान्यता को "क", "ख", "ग" आदि वर्णों से अभिहित करना। वस्तुतः वह कोण विशेष न क है और न तो ख है। ऐसे ही वस्तुत वह अक विशेष न क है अथवा न ख है। इसमें किसी प्रकार का साम्य नहीं होता। यह रेखाओं की क ख सख्या तथा अक विशेषों की क ख सज्ञा केवल शुद्ध कल्पनामात्र है और गणितीय सिद्धिका व्यवहार साधक है।

इसी प्रकार उस अनन्त, नीरूप निराकार अचिन्त्य तथा अवर्णनीय महनीशक्ति या शक्ति-मान् के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने के लिए कुछ प्रतीकों की कल्पना कर ली गई है। जैसे वैदिक यज्ञों में इन्द्रार्थाः स्थूनणाः किसी यूपविशेष में इन्द्र देवता विशेष की भावना करना। बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है कि अवश्मेध यज्ञ सबसे उत्तम यज्ञ है। इसको केवल क्षत्रियराजा ही कर सकता है। इस यज्ञ का अधिकार क्षत्रिय राजा को ही है। यदि कोई अन्य ब्राह्मण आदि

इस यज्ञ के फल की आकाङ्क्षा करता है तो घोड़े में विश्व की भावना करनी चाहिये। घोड़े के अंग प्रत्यंग में तत्तद् देवों एवं विश्व के अनेक प्रपंचों की भावना का निर्देश किया गया है। यही प्रतीक है। यूप इन्द्र का प्रतीक और अश्व के अंग विशेष तत्तद् देवादि के प्रतीक हैं। इन स्थानों में प्रतीति के विषय उन देवताओं से कोई द्रव्य गुणादि साम्य नहीं है केवल मान्यतामात्र अथवा कल्पनामात्र है। इसके आधार पर क्रियमाण कर्म प्रतीकोपासना है।

ऐसी प्रतीकोपासना विश्व के सभी भागों में पायी जाती है। यह प्रतीक कहीं वृक्ष विशेष कहीं जल विशेष, कहीं मृतिका विशेष, कहीं स्थान विशेष, कहीं शिला विशेष और कहीं चिन्ह विशेष होते हैं। जैसे श्रीनगर में एक जगह भैरव की उपासना देवदारू वृक्ष विशेष में आज भी हो रही है, क्षीर भवानी की उपासना जल विशेष में सारिका भवानी की उपासना एक मृण्मय पिण्ड रूप में हो रही है। इसी प्रकार हिमाचल में देवी की उपासना ज्वाला रूप में, जम्मू में माता वैष्णवी की उपासना एक पाषाणमय पिण्ड रूप में और देवी की उपासना एक छोटे से जल स्त्रोत के उद्भम स्थान के रूप में हो रही है। दक्ष यज्ञ विध्वंस के समय सती के शरीर के अंग जहां जहां गिरे वहां वहां शक्ति पीठ स्थापित हुए। यह स्थान विशेष की उपासना है। इसी प्रकार कैलाश पर्वत विशेष प्रस्तीक रूप मान गया है। मक्का मदीना में हज करने वाले एक प्रस्तर विशेष का चुम्बन करते हैं यह प्रस्तर विशेष तथा स्थान विशेष की उपासना है। ईसा मसीह के जन्म स्थान जेरूसलम के दर्शनार्थी उपासकों की उपासना स्थानविशेष की है। ईसाइयों में क्रास चिन्ह के प्रति जो भक्ति भाव या श्रद्धाभाव देखी जाती है, वह चिन्ह विशेष की उपासना है। इसी प्रकार बौद्ध जैन सम्प्रदाय में भी भगवान् बुद्ध एवं श्रीमहावीर स्वामी से सम्बन्ध स्थान विशेष आदि चैत्य आदि की उपासना की जाती है। श्रीनगर से लेकर काम रूप की उपत्यका के निवासियों के अधिकांश घरों में कुल देवी की उपासना चलती है। यह कुलदेवी घर में पवित्र एक भाग में मृण्मय पिण्ड रूप में विराजमान रहती है और उनकी पूजा नित्य नहीं होती किन्तु समय विशेष पर होती है।

यह तो मिट्टी, जल, तेज एवं चिन्ह विशेष की प्रतीकोप्रासना हुई। इसी प्रकार रेखा प्रतीक से भी उपासना होती है। यन्त्रों की उपासना रेखा प्रतीकोपासना है। यन्त्रराज श्री चक्र में तो रेखाओं के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की कल्पना की गई है।

इस प्रकार अ, इ, क, ख, य, ह, श, आदि स्वर स्पर्श, अन्तस्थ एवउ अ, उ, म् वर्णों के तत्तद देवता माने गये हैं। इन वर्णों से तत्तद् देवता तथा तत्तत् पृथिकव्यादि तत्त्वों का संबन्ध माना गया है। इसी सम्बन्ध के आधार पर मन्त्र के जप से अभीष्ट सिद्ध की जाती है। बौद्ध समुदाय का ऊं मणिय पद्मे से हुम् यह मन्त्र इसी वर्ण प्रतीक आधार पर ही सर्वकल्याण का मूल माना गया है।

वैदिक सम्प्रदायका यज्ञोपवीत भी वेद की कर्मकण्ड सम्बधी एवं उपासना सम्बन्धी ऋचाओं का प्रतीक है। यह प्रतीक सूत्रात्मक है। वेद में 80 हजार ऋचायें कर्म काण्ड परक हैं और 16 हजार ऋचायें उपासना परक हैं। इन 86 हजार ऋचाओं के प्रतीक के रूप में अंगुलियों की नाप 86 अंगुलके परिणाम के सूत्र को दो बार त्रिगुणित करके यज्ञोपवीत बनाया जाता है। नाप तो ऋचाओं की संख्या पर है और दो बार त्रिगुणित तीनों वेदों एवं तीनों अग्नियों के आधार पर हैं। इसमें प्रति तन्तु में तथा प्रतिग्रन्थि में तत्तद् देवताओं का आवाहन किया जाता है। इस प्रकार प्रतीक के और भी बहुत से उदाहरण वैदिक पौराणिक एवं तान्त्रिक हैं। यही प्रतीकोपासना है। इसे प्रतीकविज्ञान भी कह सकते हैं।

प्रतीक विज्ञान का मनोहर विकसित रूप प्रतिमा विज्ञान है। प्रतीक विज्ञान को पूर्व पीठिका में रखकर प्रतिमा विज्ञान को सोचने में सरलता होती है। अतः अब दूसरी अन्तरा में प्रतिमा विज्ञान पर कुछ विचार किया जाएगा।

प्रथम अन्तर में हम लोगों ने प्रतीक विज्ञान पर काफी कुछ विचार कर लिया है। अब प्रतिमा विज्ञान पर कुछ विचार कर लेना चाहिये। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रतीक विज्ञान प्रतिमा विज्ञान की पूर्व पीठिका है और प्रतिमा विज्ञान उत्तर पीठिका है। प्रतिमा का अर्थ होता है–प्रति अर्थात् प्रातिनिध्येन मा अर्थात् माप करना, नापना या तुलना करना। नतस्य प्रतिमा इस यजुर्वेद के मन्त्र खण्ड की कारका में यही कहा गया है कि तस्य परमात्मनः प्रातिनिध्येन मानं कुर्तुं न शक्यते। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा अद्वितीय है। किन्तु बाद में प्रतिमा शब्द का अर्थ प्रतिरूपेण मानं ज्ञानं किया गया जैसे उपमा शब्द में तथा अनुमा एवं पूर्णिमा आदि शब्दों में किया गया है। इसके लिए उन उपास्यों अथवा मन्त्रार्थोंके रूप की कल्पना की गयी। इस रूप कल्पना की कथा भी बड़ी रोचक है। जैसे–ऋग्वेद में सुना गया–पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि। इसका सामान्य अर्थ होता है कि उस परमात्मा का एक पाद अर्थात् चतुर्थांश यह सारा विश्व है और उसके तीन पाद अर्थात् तीन भाग अभी आकाश में अमृत हैं अर्थात् दिक् एवं काल की परिधि से परे है। दिक और काल की परिधि में आना ही परिच्छिन्न होता है और मृतपद वाच्य होता है। भाव यह हुआ कि परमात्मा का बहुत थोड़ा अंश व्यक्त या प्रकट हुआ है, उसका अधिक अंश अभी अव्यक्त है अर्थात् कुण्डलित है, प्राचीन समय की कुण्डली के तरह सिमटा हुआ है। कुण्डली का अर्थ सर्प भी होता है। अब चित्रकार ने इस अर्थ को चित्रित करने के लिए कुण्डली के भीतर विष्णु को दिखाया। कलाकार ने कुण्डली की जगह महान् सर्प चित्रित किया और विष्णु का सुन्दर रूप विश्व के अर्थ में चित्रित किया। माया के द्वारा यह विश्व बना है। माया परमात्मा की सहकारिणी शक्ति है। अतः माया का सुन्दर रूप लक्ष्मी जी विष्णु के पैरों के पास बैठा दी गयी। परमात्मा आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः कहा गया है और जगत् का पोषक है। अतः जलदमेघ युक्त आकाश का श्याम वर्ण भी ले लिया गया। उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ को समझाने तथा चित्रित करने की चित्रकार की कल्पना ने विष्णु के इस

रूप को प्रस्फुटित किया। आज धातु से काष्ठ से तथा प्रस्तर आदि से इसी रूप में विष्णु की प्रतिमा का निर्माण होने लगा है।

इसी प्रकार कश्मीर शैवागम के अनुसार कदा शिव के वक्षः स्थल पर पैर रखकर खड़ी महाकाली की प्रतिमा बनायी जाती है। शैवागम का सिद्धान्त है कि परमशिव और उसकी चिति शक्ति जब दोनों सम्मुख रहते हैं तो सामरस्य रहता है और तब एकाकार चिद्धनशिव रहता है, वाह्यसृष्टि नहीं रहती। इस समय की चिति शक्ति को शुभ्र वर्णा कहा गया है। किन्तु जब यह चिति शक्ति परम शिव की तरफ न होकर दूसरी तरफ रहती है तब शिव की कान्ति न पड़ने से वह चिति शक्ति कृष्णा रहती है और विश्वोन्मुख रहती है, चिति की प्रधानता होती है और शिव की अप्रधानता होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए शिव को अधः और शक्ति को ऊपर दिखाने की कल्पना की गयी। इसके आधार पर शिव के वक्षः पर स्थित महाकाली की प्रतिमा बनने लगी। सांसारिक वस्तुओं की कामना से ऐसी महामाली की आराधना होनी लगी। शैवागम के प्रमुख ग्रन्थ चिद्गगन चन्द्रिका में वर्णित चितिसाम्मुख्य और चितिवैमुख्य से सृष्टिलय की प्रक्रिया को समझाने के लिए उपयुक्त कल्पना की गयी।

उक्त साम्मुख्य को पूर्णिमा तथा उक्त वैमुख्य को अमा कुहू तथा काली आदि कहा जाता है ये सभी भाव चिद्गगन चन्द्रिका के इन श्लोकों में वर्णित हैं—सप्रकाशकृतमज्जनं जगत्। कुर्वती भवति पूर्णिमा शिवे। पूर्णमिव तव रूप मन्यथा कुर्वती कुहूः प्रतीयसे॥ पूर्णता कृशतयोर्यदन्तरम्—तव कालि विजृम्भ्रितक्रमरहस्यमास्थिता। चिन्मयी कृतमतोऽद्य तद्दृश्यया, गुह्ययाम्ब विपरीतचर्यया। लभ्यतेऽसमरसीकुतास्त्रि द्वैतवृत्ति तव घस्मर वपुः। इसी प्रकार निराकार शिव की रूप कल्पना गोलमटोल पिण्डीरूप में की गई है। जैसे गणित शास्त्र में 2 में 2 घटाया गया शून्य फल हुआ। शून्य का कोई रूप नहीं है। फिर भी व्यवहार के लिए शून्य का रूप O एक गोल बना लेते हैं। वैसे ही शिव के लिए भी है। शिवपिण्डी के नीचे का आधार माया है या ऊकार है।

इसी प्रकार पांचरात्र आगम के अनुसार यज्ञो हवै विष्णुः इस श्रुति को लेकर तीनों अग्नियों के स्थान पर तीन विष्णु लक्ष्मी और भूमि की मूर्तियों ब्रह्म जीव और माया के लिए राम लक्ष्मण अथवा जगन्नाथ बलराम और सुभद्रा आदि प्रतिमायें स्थापित की गयीं।

कभी कभी सम्प्रदायों के भेद से भी देवों की प्रतिमाओं में विचित्र कल्पनायें की गयीं। जैसे शिव निवृत्ति के देवता है और विष्णु प्रवृत्ति के देवता हैं। अतः दोनों की प्रतिमाओं में भेद प्रदर्शित किया गया। विष्णु विश्व को उर्वर करने के लिए नील जलद श्याम है तो शिव निर्जल स्वच्छ अनुर्वर मेघरहित आकाश जैसा शुभ्र है। शिव के शिर पर विनाश रूपक सर्प है तो विष्णु के यहां पादतलाक्रान्त सर्प है। शिव दिगम्वर तो विष्णु पीताम्वर है। शिव जलधारा प्रियः शिवः है तो विष्णु अलङ्कार प्रियो हरिः है। शिव कामारि है तो विष्णु काम प्रद्युमन के

जनक है। शिव उतुंग शिखर पर रहते हैं तो विष्णु समुद्रतल में रहते हैं। इस प्रकार के और भी भेद दोनों सम्प्रदायों के विरोधाभास का परिणाम हैं।

प्रतिमाओं के निर्माण के लिए पाषाण सुवर्णादि धातु हीरा आदि रत्न काष्ठ और मृत्तिका आदि का उपयोग किया जाता है। इनके पृथक-पृथक फल हैं। काष्ट पाषाण आदि के लक्षण उत्तम मध्यम एवं अधम आदि का विचार भी किया गया है। विष्णु प्रतिमाओं के लिए पांच रामागम ग्रन्थों और आगमग्रन्थों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। महाबलीपुरम् में राजकीय प्रतिमा निर्माण कलाशाला है। जहाँ मरीचिसंहिता के अनुसार प्रतिमा निर्माण की सविधि शिक्षा दी जाती है। शिव प्रतिमाओं के लिए शैवागम ग्रन्थों में विशेषतः अजितागम एवं कामिकागम ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी काफी सामग्री मिलती है। सामान्यतः देवों की प्रतिमा के निर्माण के लिए वराहमिहिर की बृहत् संहिता में वर्णन मिलता है इसी प्रकार रामप्रतिमा स्थापना के लिए रामतापनीयोपनिषद् में वर्णन है। इस प्रकार प्रतिमा सम्बन्धी वाङ्मय बहुत विस्तृत है।

इस समायोजित प्रशिक्षण के परिप्रेक्ष्य में विचार करना है कि भारत में तथा भारत के बाहर पूर्वी देशों थाईलैण्ड, कम्बोडिया, जावा एवं सुमात्रा आदि में हमारी संस्कृति को, हमारे प्राचीन इतिहास को, हमारी प्राचीन कला को एवं हमारी सूक्ष्म एवं कोमल कल्पना को धरोहर में रखकर सुरक्षित इन प्रतिमाओं का मूल्याकन एव संरक्षण कैसे हो। ये प्राचीन धरोधर न्यूनाधिक मात्रा में चीन, जापान और कुछ मुसलिम देशों में भी प्राप्त हो रहे हैं। इनका अध्ययन एवं परिचय कैसे हो।

इसके लिए प्रतिमा सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टि से कालम के अनुसार तथा देशभेद के अनुसार प्रतिमाओं में प्राप्त विशिष्टताओं के आधार पर वहां के सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों को उभारा जा सकता है। अजन्ता, एलोरा, खजुराहो, सारनाथ, तथा काठमान्डू की पाषाण निर्मित एवं काष्ठ निर्मित प्रतिमाओं में केवल रूप भेद ही नहीं है किन्तु उस समय की सामाजिक चेतना का प्रतिफलन भी है।

जैसे श्री गणेश की प्रतिमा के अध्ययन लिए विपुल सामग्री प्राप्त है। दक्षिण के मदुरै के मन्दिर में गणेश की पत्नी की भी मूर्ति है। जबलपुर में मेडाघाट पर भी गणेश की पत्नी की मूर्ति है। उनका मुख गजका मुख है। शारदातिलक में गणेश के अनेक भेद और अनेक प्रकार हैं। इसी प्रकार महालक्ष्मी की प्रतिमायें अनेक प्रकार की प्राप्त होती हैं। गजलक्ष्मी पदमलक्ष्मी आदि। राजराजेश्वरी, तारा, यक्षिणी भूमि, महालक्ष्मी और इन्द्राणी आदि प्रतिमायें समान रूप से प्राप्त हो रही हैं। इनका वैशिष्टय केवल संस्कृत के ग्रन्थों के आधार पर ही समझा जा सकता है। इसके लिए संस्कृत का अध्ययन, उन प्रचीन प्रतिमा सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन

तथा कला सम्बन्धी विषयों में प्रावीण्य प्राप्त करना अत्यावश्यक है। ऐसा करने से हम अपनी प्राचीन धरोहर का सच्चा मूल्यांकन महत्त्व एवं सुरक्षा का प्रयास पूर्ण कर सकेंगे।

प्रतिमाओं में काल क्रम से द्विभुज से लेकर अष्टभुज तक एक शिरास्क से अनेक शिरस्क तक का विकास होता गया है। इस कालक्रमिक विकास के लिए श्री द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल का ग्रन्थ प्रतिमाविज्ञान तथा श्री भगवान सिंह का गुप्तकालीन हिन्दू देवप्रतिमायें द्रष्टव्य हैं पुराणों सहिता ग्रन्थों में प्रतिमा सम्बंधी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इसके लिए विष्णुपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मत्स्य पुराण, ब्रह्मपुराण तथा ब्रह्मवैवंत पुराण तथा वराहमिहिर की वृहत्संहिता द्रष्टव्य है। प्रतिमा निर्माण के संदर्भ में वैखानस आगम की मरीचिसंहिता में बहुत सामग्री प्राप्त होती है। वैसे तो शैवागम के अजितागम, कारणगम, पांचरात्र की नारदीय संहिता आदि भी द्रष्टव्य हैं। वैष्णव-आगयों में प्रतिमा के लिए "वेर" शब्द प्रयुक्त हैं जिनके अनुसार वेरस्थापन का एक क्रम दिखाया जा रहा है।

वेर

	१	२	३	४	५	
वैखानसानुसारी	ध्रुव	कौतुक	औत्सव	स्नपन	कलि	
पांचरात्रनुसारी	१ कर्मार्चा	२ उत्सवार्चा	३ बलार्चा	४ तीर्थार्चा	५ स्नपनार्चा	६ शयनार्चा

चित्रम (उत्तम) — चित्राद्धिय् (मध्यम) — चित्राभास (अधम)

स्थानक, — योग, भोग, वीर, अभिचांर
आसन, — पो., भो, वी., अ.
शयन, — यो., भो., वां., अ.

स्था० — यो., भो., वां., अ.
आ० — यो., भो., वी., अ.
श० — पो., भो., वी., अ.

स्था० — यो., भो., वी, अ.
आ० — यो., भो,. वी., अ.
श० — पो., भी., वी,. अ.

प्रतिमाओं के निर्माणार्थ उपादान द्रव्य, शैल, रत्न, धातु, दारू और मृतिका माने गए हैं। इनमें प्रत्येक के अनेक भेद दिखाए गए हैं। उपादान द्रव्यों के आधार पर प्रतिमार्चन के फल में भी वैविध्य है। फल की दृष्टि से ही प्रतिमाओं के आकार में भी भेद दिया गया है। यह आकार भेद भी समय-समय पर होते गए हैं। इनके ज्ञान के लिए उक्त आगम एवं पुराणादि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

अभिलेखों का महत्त्व

—डा० वेद कुमारी घई

भारतवर्ष के भूगोल, इतिहास तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों के ज्ञान में अभिलेखों का पर्याप्त महत्त्व है। शिलाओं, सिलास्तम्भों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित ये अभिलेख हमें उस समय की घटनाओं की प्रामाणिक जानकारी देते हैं। ताड़पत्रों, भूर्जपत्रों आदि पर लिखे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की बहुत सी मूल प्रतियां लम्बे काल प्रवाह में वर्षा, धूप, कीट, जलप्लावन, अग्निदाह आदि कई कारणों से नष्ट हो गई हैं तथा अवशिष्ट प्रतियां प्रायः प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रतिलिपियां बनाते समय हुई कई प्रकार की अशुद्धियों से युक्त मिलती हैं, शिलालेख, स्तम्भलेख, तथा ताम्रपत्र लेख प्रायः अपने मूल रूप में सुरक्षित मिलते हैं। पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ पांचवी-छटी शताब्दी तक के मिलते हैं। परन्तु अशोक के अभिलेख ईसा से अढाई सौ वर्ष पूर्व के उसी रूप में मिलते हैं जिसमें वे लिखे गये थे। आज भी हम इन अभिलेखों में अशोक को स्वय बोलता हुआ पाते हैं, बिल्कुल उसी रूप में जैसे वह अपने कर्मचारियों को तथा प्रजाजनों को आदेश उपदेश दे रहा था। कोई प्रक्षेप नहीं, कोई पद लोप नहीं, कोई पाठ भेद नहीं, सब वैसा है जैसा आंज से दो हज़ार वर्ष से भी अधिक समय पूर्व था।

यदि अशोक के अभिलेख हमें उपलब्ध न होते तो अशोक के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम होती। उस की धर्म विजय, सहिष्णुता, उदारता और प्रजावत्सलता से अनभिज्ञ रह कर हम उसे कदापि महान् अशोक न मानते और न ही अशोक स्तम्भ का धर्मचक्र युक्त शीर्ष हमारे देश भारत का राष्ट्र चिन्ह बन पाता। अशोक के अभिलेख भारत के विभिन्न प्रदेशों से मिले हैं जिनसे अशोक के विशाल साम्राज्य की झलक मिलती है। उसके कुछ अभिलेखों में पश्चिमी एशिया के कुछ यवन शासकों के नाम मिलते हैं जिनसे अशोक के शासनकाल के विषय में प्रामाणिक जानकारी मिल जाती है। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली की श्रीनिवासपुरी कालोनी के समीप एक चट्टान पर खुदा हुआ अशोक का लेख प्रकाश में आया है जिस ने सिद्ध कर दिया है कि आज से लगभग बाईस सौ वर्ष पहले भी दिल्ली नगर आबाद था। इससे पूर्व दिल्ली में उपलब्ध अशोक के दो स्मारक मूलतः दिल्ली के स्मारक न हो कर फिरोजशाह तुगलक द्वारा टोपरा तथा मेरठ से दिल्ली लाए गये थे। हाल में मिला लघुशिलालेख मूलतः दिल्ली का है अतः दिल्ली के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

कलिंगराज खारवेल का एक लेख भुवनेश्वर के पास के एक स्थान हाथी गुम्फा से मिला है जिसमें खारवेल के जीवन तथा उसकी विजयों का विस्तृत वर्णन है। इस महान् राजा का उल्लेख किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। स्पष्ट है कि यदि हमें हाथीगुम्फा अभिलेख प्राप्त न होता तो हम खारवेल के विषय में कुछ भी न जान पाते।

काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास गिरनार नामक पहाड़ी की एक चट्टान पर अशोक के चौदह लेख खुदे हुए हैं और उसी चट्टान पर महाक्षत्रप रूद्रदामन् का एक संस्कृत लेख है जो हमें चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की सूचना भी देता है। रूद्रदामन् के लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के एक प्रांतीय शासक वैश्य पुष्यगुप्त ने नदी का बांध बांध कर गिरनार के पास सुदर्शन सरोवर का निर्माण करवाया था। सम्राट् अशोक के समय में इस सरोवर में कुछ दरार आई जिसे अशोक के एक सामन्त यवनराज तुषास्फ ने ठीक करवा दिया। रूद्रदामन् के समय में बाढ़ के कारण सरोवर का बांध टूट गया। सुदर्शन सरोवर वस्तुतः दुर्दर्शन हो गया। तब रूद्रदामन् की आज्ञा से बांध को तीन गुणा ऊंचा बनाया गया और सरोवर की मुरम्मत की गई जिससे प्रजा को परम सन्तोष हुआ। गुप्त राजाओं के समय में यह बांध फिर टूट गया। इसी चट्टान पर गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त का लेख भी उत्कीर्ण है जिसमें दी सूचना के अनुसार स्कन्दगुप्त के एक अधिकारी चक्रपालित ने 458 ई० में इस सरोवर की मुरम्मत करवाई थी। इस प्रकार गिरनार की यह चट्टान हजारों वर्ष पूर्व का इतिहास कितने स्पष्ट और प्रामाणिक रूप में हमारे सामने उपस्थित कर रही है।

गुप्त वंश के इतिहास की सामग्री पुराणों में उपलब्ध होती है परन्तु वह सामग्री इस ढंग से बिखरी हुई है और काल क्रम से इतनी उलट फेर वृतान्त से मिश्रित हो गई है कि बिना अभिलेखों की सहायता से उसका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन कर पाना असम्भव होता। गुप्तकाल की शासन व्यवस्था, धार्मिक अवस्था, सामाजिक अवस्था इन सब पर तत्कालीन अभिलेख पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। कालीदास के रघुवंश में रघु की दिग्विजय समुन्द्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख में प्रतिबिम्बित है। हर्ष के अभिलेखों से हर्ष के शासनकाल की घटनाओं और शासन व्यवस्था का वर्णन उपलब्ध होता है हर्ष के अपने हस्ताक्षर अभिलेख में विद्यमान हैं। छटी शताब्दी से दसवीं शती तक के दान पत्रों से तत्कालीन भूमि सम्बन्धी नियमों का पता चलता है।

कश्मीर से प्राप्त शिहाबुदीन के समय (1369 ई०) का कोटिहर शिलालेख तथा जैनुलाब्दीन के समय (1429 ई०) का खोनमुख शिलालेख यह सिद्ध करते हैं कि इन मुस्लिम शासकों ने संस्कृत की उपेक्षा नहीं की थी। शिहाबुदीन के अभिलेख में उसे पाण्डववंशज बताया गया है तथा उस के कार्यों की तुलना राम के कार्यों से की गई है। धर्म परिवर्तन के पश्चात् भी अपनी प्राचीन परम्परा से जुड़े रहने का यह प्रमाण भारत की मिली-जुली संस्कृति की अमूल्य धरोहर है।

अनेक अभिलेखों साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। महाक्षत्रप रूद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति सस्कृत की अलकृत गद्यशैली का सुन्दर उदाहरण है। कुछ अभिलेखों में काव्य नाटक भी उपलब्ध हुए हैं जैसे सोमदेवकृत ललितविग्रहराज नाटक, विग्रहराजदेवकृत हरकेलिनाटक, मदनकृत पारिजात मञ्जरी नाटिका तथा रणछोड़कृत राजप्रशस्ति। राजप्रशस्ति सम्भवतः सब से लम्बा अभिलेख है जिस के चौबीस सर्गों के 1106 पद्यों में राजसिंह द्वारा बनवाई गई झील का विवरण है। इस प्रकार अभिलेखों का अध्ययन भारत के इतिहास, संस्कृति तथा साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ब्राह्मी लिपि का इतिहास और विकास

—डा० वेद कुमारी घई

भारत की प्राचीनतम लिपि सिन्धुसभ्यता के अवशेषों से प्राप्त सिन्धुलिपि है जिसे पढ़ने का यत्न अनेक विद्वानों ने किया है परन्तु अभी तक उसकी पूरी पहचान सम्भव नहीं हो सकी है।

उसके कई शताब्दियों बाद एकाएक भारत के विभिन्न भागों से बहुंत सारे अभिलेख मिलते हैं जिन्हें सम्राट् अशोक (272—232 ई० पूर्व) ने लिखवाया था। इन अभिलेखों की भाषा प्राकृत है तथा लिपि को धर्मलिपि कहा गया है। बाद में इसी लिपि को ब्राह्मी लिपि का नाम दिया गया है। अशोक के लेखों की यह लिपि इतनी वैज्ञानिक और विकसित है कि यह अवश्य ही दीर्घकाल के विकास मार्ग से गुजर कर आई होगी। अशोक ने अपने उत्तर पश्चिमी प्रदेश के अभिलेखों में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया है जो ईरान के हरखामनी सम्राटों के समय की आरमेई लिपि से विकसित हुई है परन्तु भारत के अन्य सभी भागों में प्रयुक्त लेखों के लिए ब्राह्मी का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर सारे भारत में उस समय ब्राहमी लिपि का प्रचार था। इस प्रचार प्रसार में कई सौ वर्ष का समय लगा होगा अतः कहा जा सकता है कि भारत में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग ईसा से कई शताब्दियों पूर्व हो चुका था। पिप्रावा के प्राचीन बौद्ध स्तूप से जो धातुपात्र मिला है उसका समय सम्भवतः बुद्ध के निर्वाण का समय (483 ई० पूर्व) हैं। उस धातुपात्र पर ब्राह्मी लिपि में सलिलनिधाने बुधस भगवते ये शब्द अंकित है जो अशोकीय ब्राह्मी लिपि से पुराने हैं।

लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में एक बेबीलोनी फलक पर ब्राह्मी लिपि तथा बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि में एक लेख मिलता है। यह द्विभाषिक लेख सम्भवतः ईसा पूर्व पांचवी सदी का है।

प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व पांचवी-छटी शताब्दी में ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व था। इस वैज्ञानिक लिपि का आधार सिन्धु लिपि थी या भारतीय वैयाकरणों ने अपनी प्रखर बुद्धि से इसका आविष्कार किया था, यह हम पूरी तरह नहीं जानते परन्तु वेबर, बूलर, वार्नेट आदि विद्वानों का यह मत तो निराधार है कि ब्राह्मी के बहुत से अक्षर उत्तरी सेमिटिक लिपियों से लिये गये हैं।

अशोकीय ब्राह्मी के बाद शुंग कालीन ब्राहमी, कुषाण कालीन ब्राह्मी, गुप्तकालीन ब्राह्मी के रूप मिलते हैं। अशोक कालीन ब्राह्मी तथा शुङ्गकालीन ब्राह्मी में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु कुषाणकालीन ब्राह्मी में विकास के कुछ चिन्ह दिखाई देते हैं।

1. अशोकीय ब्रहामी के अक्षरों पर सिर नहीं है परन्तु कुषाण कालीन ब्राह्मी के सिरों पर छोटी सी लकीर या घुंडी या त्रिकोण दिखाई देते हैं।

2. अशोकीय ब्राह्मी के व्यञ्जन अक्षरों के दायें, वाएं, नीचे, ऊपर खड़ी या आड़ी लकीरें डाल कर स्वरों की मात्राएं प्रकट की जाती थीं। यह लकीरें सीधी होती थीं परन्तु कुषाणकालीन ब्राहमी में ये लकीरें दायीं या बायीं ओर टेढ़ी हो जाती हैं। इ ई की मात्राएं कुछ गोलाकार हो चली हैं।

3. अशोकीय ब्राहमी में अनुस्वार का चिन्ह बिन्दु था जो कुषाणकालीन ब्राहमी में छोटी सी आड़ी रेखा में विकसित हो गया है।

4. तेजी से लिखने की प्रवृति के कारण अशोकीय ब्राहमी के कुछ अक्षर न स म आदि वक्रिल रूपों में विकसित हो गये हैं।

5. अक्षरों को सौन्दर्य प्रदान करने की प्रवृति के कल स्वरूप कुछ अक्षरों में गोलाइयां आ गई हैं।

6. इस काल की लिपि में कई नए संयुक्ताक्षर मिलते हैं।

गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में दो प्रमुख शैलियां मिलती हैं—खड़ी गुप्तलिपि और तिरछी गुप्तलिपि। भारतीय अभिलेखों तथा ग्रन्थों में खड़ी गुप्तलिपि का तथा मध्य एशिया से प्राप्त हस्तलेखों में तिरछी गुप्तलिपि का प्रयोग मिलता है। दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत की लिपि में भी थोड़ा सा अन्तर दिखाई देने लगता है। वाकाटक अभिलेखों में पेटिकाशीर्ष अक्षरों का प्रयोग हुआ है जो देखने में सुन्दर प्रतीत होते हैं। कुछ लेखों में ये शीर्ष खोखले त्रिकोण या ठोस त्रिकोण हैं। सिरे लम्बे होने लगे हैं। कुछ अक्षरों जैसे उ ढ ल द आदि की आकृतियां नागरी से मिलती जुलती हो गई हैं।

गुप्तकालीन ब्राह्मी के बाद जिस लिपि के दर्शन होते हैं उसे कुटिललिपि या सिद्धमातृका लिपि का नाम दिया गया है। ईसा की छटी से दसवीं शताब्दी तक इस लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में होता रहा है। दक्षिण भारत में ईसा की सातवीं शताब्दी में ब्राह्मी की एक शैली पल्लव ग्रन्थलिपि विकसित हुई जिससे आगे चल कर तमिललिपि का विकास हुआ। केरल की मलयालम लिपि का विकास भी पल्लव ग्रन्थ लिपि से हुआ है।

शारदा लिपि का इतिहास और विकास

ईसा की आठवीं शती से शारदा लिपि का प्रयोग मिलता है। इस लिपि में लिखित प्राचीनतम अभिलेख पश्चिमी पाकिस्तान के अटक जिले के हुन्द नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है जिसका समय 774-75 ई० है। चम्बा के सराहां नामक स्थान से नवम शती का सात्यकि का अभिलेख मिला है। स्वात से दशम शती का शाहीनृप भीमदेव का अभिलेख मिला है। उसके पश्चात् शारदा का प्रयोग चम्बा तथा कश्मीर में प्रायः मिलता है। जम्मू के डोडा जिले से एक लेख मिला है। दिल्ली में पालमपुर से एक शारदा लेख मिला था जिस की डेढ़ पक्ति शारदा में तथा शेष नागरी में है। कश्मीर के हस्तलिखित ग्रन्थों में इस लिपि का प्रयोग काफी मिलता है।

अल्बेरूनी ने अपने ग्रन्थ (1030 ई०) में लिखा है कि कश्मीर और वाराणसी में सिद्धमातृका लिपि का प्रयोग होता था। काशी तथा कश्मीर दोनों संस्कृत विद्या के केन्द्र थे। प्रतीत होता है कि दोनों स्थानों पर एक लिपि का प्रयोग होता था जिसे अल्बेरूनी ने सिद्धमातृका कहा है। इसी सिद्धमातृका लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ। इसी शारदा से ही टाकरी लिपि तथा गुरुमुखी लिपि का विकास हुआ है।

डॉ० वी. के. कौल डेम्बी ने अपनी पुस्तक कार्पस ऑफ शारदा इन्स्क्रिप्शनस ऑफ कश्मीर में शारदा लिपि के विकास का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन के अनुसार यह लिपि उत्तर पश्चिमी भारत में प्रयुक्त प्राचीन ब्राह्मी से विकसित हुई। इस लिपि में धीरे-धीरे कई परिवर्तन आए जैसे अ आ में खड़ी पाई के निचले भाग में वायीं ओर घुमाव का बनना, क के बाई ओर घुंडी बनना, कुछ अक्षरों जैसे त च में गोलाई बनना। ए ओ की मात्राओं का पृष्ठमात्रा होने के स्थान पर शिरोमात्रा बनना आदि।

पाञ्चरात्रागमिक प्रतिमा-विज्ञान

डॉ० राघव प्रसाद चोधरी

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता मुख्य रूप से निगम-आगम मूलक है। निगम से जहां वेद अभिहित है, वहां आगम से भारतीय समाज का पारंपरिक आध्यात्मिक आराधनादि प्रतिपादक शास्त्र विशेष विवक्षित है। सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर आगमिक परंपरा अत्यन्त प्राचीन होती हुई वैदिक श्रौत प्रक्रिया से प्रभावित प्रतीत होती है। श्रौत प्रक्रिया जहां अमूर्त अग्नि आराधन प्रधान है, वहां आगमिक प्रक्रिया समूर्त अर्थात प्रतिमा आराधन के साथ अग्न्याराधन की व्यवस्था का विधान करती है। मतलब यह है कि आगमिक प्रक्रिया में प्रतिमाराधन को प्रमुख स्थान प्राप्त है। सामान्यत: आगमिक संप्रदाय वैष्णव, शैव, शाक्त तथा कुछ अन्य अवान्तर भेदों में विभक्त हैं। सामान्य भेद के बाद भी मूलत: ये आगम अत्यन्त भिन्न नहीं कहे जा सकते। प्रधानत: आराध्य भेद ही इन्हें एक दूसरे से भिन्न बनाते हैं। आगमों के प्रतिपाद्य विषय ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या के रूप में विभक्त किये जा सकते हैं। आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित दार्शनिक विषय ज्ञान के अन्तर्गत, योग सम्बद्ध विषय योग के अन्तर्गत, मूर्ति अर्थात् प्रतिमा आराध्य के लिए अपेक्षित आलयकल्पन के लिये भूमि अधिग्रहण से प्रारंभकर आलयकल्पन, प्रतिमा प्रतिष्ठा पर्यन्त सारे क्रिया कलाप क्रिया के अन्तर्गत, तथा सांगोपांग नित्य तथा नैमित्तिक आराधन आदि विषयों का विस्तृत विवेचन चर्या के अन्तर्गत आते हैं। क्रिया से सम्बद्ध विषय मुख्यत: वास्तु तथा शिल्प शास्त्र से सम्बद्ध हैं। वैष्णव आगम के दो भेद हैं। पाञ्चरात्र तथा वैखानस। इन दोनों वैष्णव आगमों में प्रतिमा विज्ञान से सम्बद्ध विषयों की विस्तृत चर्चा हुई है। प्रस्तुत प्रसंग में हम पाञ्चरात्रागम में वर्णित प्रतिमा विज्ञान से सम्बद्ध विषयों के विवेचन का प्रयत्न करेंगे। इस क्रम में प्रतिमा-आराधन की उपयोगिता, प्रतिमा के भेद, प्रतिमा के उपादान द्रव्य तथा प्रतिमानिर्माण के लिए स्वीकृत मान विषयों के संक्षिप्त विवेचन के द्वारा इस अत्यन्त विस्तृत विषय को सामान्य रूप में स्पष्ट करने का प्रयास होगा।

पाञ्चरात्रागम ने कुंभ, मण्डल, अग्नि तथा देवालय के अन्दर स्थापित प्रतिमा इन चार स्थलों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आराधन का आश्रय स्थान स्वीकार किया है। इसे इस आगम में चतु: स्थानार्चन कहा जाता है। पर, प्रतिमाराधन का स्थान सर्वापेक्षया उत्कृष्ट कहा गया है। यही कारण है कि पाञ्चरात्रागम के प्राय: सभी ग्रन्थों में एकाधिक अध्यायों में प्रतिमा कल्पना विषय

का सांगोपंग वर्णन किया गया है। इस वर्णन में वैष्णव संप्रदाय से सम्बद्ध प्रायः सभी देवताओं के स्वरूप निर्दिष्ट हैं।

प्रतिमा-आराधन के प्रंसग में यह प्रश्न उठाया गया है कि चतुस्स्थानार्चन के रूप में पूर्व तीन आराधन स्थल के रहते हुए प्रतिमाराधन को अधिक महत्व देने में क्या तथ्य पूर्ण हेतु हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों का कहना है कि पारलौकिक साध्य सिद्धि के लिए धार्यमाण अग्नि में होम के द्वारा आराध्य का ही आराधन किया जाता है, पर आश्रय हीनता के कारण अग्नि में आराध्य का ध्यान सभव नहीं होता। अतः इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण कर्मोस्थों का उस में अधिकार नहीं है। निराकार आराधनाश्रय में भक्ति, पूजा या ध्यान रमणीय न होने के कारण अनर्थ का कारण हो सकता है। रूप रहित देव का दर्शन कोई नहीं कर सकता।

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में प्रतिमा के लिए 'मंत्र स्वरूप' अर्चा, बेर, बिम्ब, विग्रह, मूर्ति, कौतुक तथा लिङ्ग शब्दों का प्रयोग हुआ है। सामान्यतः चल तथा अचल रूप में प्रतिमा के दो भेद कहे गए हैं। चल प्रतिमा जंगम दथा अचल प्रतिमा स्थावर होती है। अर्थान् चल प्रतिमा वह है जो एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाई जाती है। जैसे—उत्सव, स्नपन आदि के अवसर में प्रतिमा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना आवश्यक होता है। अतः स्नपन उत्सवादि में प्रयोग की जाने वाली प्रतिमा चल प्रतिमा होती है। इस के विपरीत जो मूर्ति किसी भी स्थिति में एक जगह से दूसरी जगह नहीं ले जाई जाती उसे स्थावर प्रतिमा या अचल विम्ब कहते हैं। इसी लिए इस प्रतिमा को ध्रुव बेर भी कहा जाता है। कुछ स्थलों में चल, अचल तथा चलाचल के रूप में प्रतिमा के तीन भेद कहें गये हैं। देवालय में आराधना के लिए पाञ्चरात्र ग्रन्थों ने निम्न लिखित सात प्रतिमाओं का निर्देश किया है— 1. मूलबेर, 2. कर्मार्चा, 3. उत्सवार्चा, 4. बल्यर्चा, 5. स्नपनार्चा, 6. तीर्थार्चा तथा 7. शयनार्चा। गर्भगृह में ब्राह्य भाग के पीछे प्रतिष्ठापित स्थावर प्रतिमा को मूलबेर कहते हैं। आराधना संबन्धि तत्तत्कार्य जिस प्रतिमा में सम्पादित होता है, उसे कर्मार्चा कहते हैं। उत्सवार्चा का उपयोग तत्तत् उत्सवों के सम्पादनार्थ किया जाता है। आराधना क्रम में बलिसम्पादनार्थ प्रयुक्त प्रतिमा बलि प्रतिमा होती है। जिस मूर्ति में सामान्य या विशेष स्नपन तथा अभिषेक किया जाता है उसे स्नपनार्चा कहते हैं। तीर्थोत्सव के लिए ले जाई जाने वाली प्रतिमा को तीर्थार्चा तथा रात्रि में शयन के लिये प्रयुक्त मूर्ति को शयनार्चा कहा जाता है। अचल प्रतिमा मूलबेर में प्रतिष्ठा के अवसर पर भगवच्छक्ति का आवाहन किया जाता है। उस में शक्ति सर्वदा विद्यमान रहती है। उस शक्ति का विसर्जन नहीं होता। मूलबेर के अतिरिक्त अन्य जितने बेर हैं वे जंगम होते हैं और उन में तत्तत् आराधन के समय मूलबेर से शक्ति का आवाहन किया जाता है और आराधन सम्पन्न होने के बाद शक्ति को पुनः मूलबेर में विर्सजित किया जाता है। कर्मार्चादि जगम बेरों का स्वरूप मूलबेर के स्वरूप की तरह होता है। अर्थात् जिन आयुधादियों से युक्त मूलबेर होगा कर्मार्चादिबेरों का निर्माण भी उन्हीं आयुधों से युक्त होगा। मूलबेर सामान्यतः स्थानक, आसीन, यानग तथा शयन रूप में चार तरह के निर्दिष्ट हैं।

निर्माण के आधार पर 1. चित्र 2. अर्धचित्र तथा 3. चित्राभास रूप में प्रतिमा तीन तरह की कही गई है। जिस प्रतिमा के सारे अवयव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं उसे चित्र, केवल आगे का भाग प्रत्यक्ष तथा पृष्ठ भाग से नहीं दीखने वाली प्रतिमा अर्ध-चित्र तथा पट या भित्ति पर बनाई गई प्रतिमा चित्राभास नाम से अभिहित है। अर्धचित्र का मान तथा उन्मान दुष्कर होता है। मूलबेर के स्थानकादि भेदों के अलावा लोक विक्रम तथा विश्व रूप ये दो भेद और कहे गये हैं। सर्ग-शयन तथा संहार-शयन के रूप में शयन वेर को भी दो तरह का होना निर्दिष्ट हैं। आसीन यानग तथा शयन वेर योग तथा भोग के रूप में दो-दो प्रकार के कहे गये हैं। इन भेदों के अतिरिक्त कुछ और भेद भी प्रतिमा के वर्णन के क्रम में निर्दिष्ट हैं। इन प्रतिमाओं की स्थापना के पृथक्-पृथक् उद्देश्य तथा फल वर्णित हैं। साधारण तथा असाधारण भेद से प्रतिमायें दो तरह की कही गई हैं। पुरुषाकृति प्रतिमा साधारण तथा अनेक कर तथा बराहादि मुख वाली प्रतिमा असाधारण कही गई है। चतुर्व्यूह देवों की प्रतिमाओं के लक्षण अलग-अलग रूप में कहे गए हैं।

अन्य प्रतिमाओं में सामान्यतः दादश मासाधिप तथा विविध अवतार देवों की प्रतिमाओं के रूप विस्तार पूर्वक वर्णित हैं। मासाधियों में केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर तथा हयशीर्ष मूर्तियों और अवतार देवों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, मवामन, त्रिविक्र, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध कल्की तथा बलराम मूर्तियों के स्वरूप पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक वर्णित हैं। एक स्थान में नृसिंह के 74 रूपों का वर्णन है। त्रिभगी की परिभाषा तथा इस तरह के अनेक अन्य प्रतिमाकल्पन सम्बद्ध विषय पाञ्चरात्र ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं।

प्रतिमा के विविध रूपों का सामान्य विवरण देखने के बाद अब संक्षेप में प्रतिमा निर्माण के लिये स्वीकृत प्रतिमोपादान द्रव्यों की चर्चा अपेक्षित है। पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों ने सामान्यतः पांच प्रतिमोपादान द्रव्यों का निर्देश किया है। वे हैं— 1. शिला, 2. लौह, 3. मणि, 4. दारु तथा 5. मृद्। इस के अलावा स्फटिक को भी उपादान द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। हयशीर्ष संहिता ने गन्ध तथा कुसुम को भी प्रतिमोपदान के रूप में गिनाया है। पर ये दोनों तत्काल आराधन के लिए स्वीकृत है। गृहार्चा तथा अलयार्चा आदि के लिए अलग-अलग उपादान द्रव्य निर्दिष्ट हैं।

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों ने लक्षण निर्देश पूर्वक शिला आदि प्रतिमोपादान के अनेक भेद कहे हैं। जैसे—गिरिजा, भूमिजा तथा वारिजा भेद से शिला तीन प्रकार की कही गई है। शिला के वर्णों के आधार पर ब्राह्मणादि तत्तदवर्णों द्वारा शिला प्रतिमा कल्पन का विधान कियागया है। दिशाओं तथा भूमि आदि की प्रकृति के आधार पर उपलब्ध शिलाओं के अनेक भेद वर्णित हैं। बाला, मध्या तथा वृद्धा रूप में वय के आधार पर शिला तीन तरह की कही गई है। स्त्री शिला, पुंशिला तथा नपुंसक शिला के रूप में लिंग के आधार पर शिला तीन प्रकार की होती है। शिला के मुख आदि विविध अङ्गों का निर्देश भी किया गया है। उपर्युक्त शिलाओं के परीक्षण के उपाय

भी बताए गये हैं। विविध शिलाओं से कल्पित प्रतिमा के विविध फलों का निर्देश भी आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित है। आचार्यों ने वैज्ञानिक विधि से परीक्षण कर ग्राह्य तथा अग्राह्य शिला का विवेचन भी किया है।

प्रतिमोपादन द्रव्यों में शिला के बाद लौह द्रव्य के अन्तर्गत सुवर्ण, रजत, ताम्र तथा आरकूट आदि द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। शुद्ध तथा मिश्र भेद से लौह द्रव्य दो प्रकार के कहे गये हैं। प्रतिमा के लिए लौह द्रव्य अन्य द्रव्यों की अपेक्षा निर्दिष्ट कहा गया है। लौह द्रव्य से अर्धचित्र प्रतिमा कल्पन निषिद्ध है। ब्राह्मणों के लिए सुवर्ण, क्षत्रियों के लिए रजत तथा ताम्र, वैश्यों के लिए रजत तथा ताम्र एंव शूद्रों के लिये ताम्र अथवा सभी वर्णों के लिए ताम्र प्रतिमोपादान द्रव्य के रूप में स्वीकृत है। सुवर्ण रजत तथा ताम्र धातु द्रव्यों से मधुच्छिष्ट क्रिया के द्वारा प्रतिमा निर्माण की प्रक्रिया पाद्म संहिता तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक वर्णित है।

मणिजा प्रतिमा के उपादान द्रव्य के रूप में चन्द्रकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि तथा स्फटिक को स्वीकारा गया है। शिला के आधार पर मणिजा प्रतिमाओं का निर्माण कहा गया है।

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों ने विस्तार पूर्वक प्रतिमा निर्माण के लिए ग्राह्य तथा अग्राह्य दारु का वर्णन किया है। ग्राह्य दारु से प्रतिमा कल्पन शुभ फलदायक तथा अग्राह्य दारुओं से प्रतिमा-निर्माण अशुभ फलदायक होता है। इस आगम में प्रतिमा कल्पनार्थ दारु संग्रह विधि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

प्रतिमा कल्पन के लिए चतुर्थ उपादान द्रव्य मृद् स्वीकृत है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लिये क्रमशः शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण मृद् प्रतिमोपादान के रूप में ग्राह्य कही गई है। मिश्रित मृद् अग्राह्य है। मृद् ग्रहण के लिए नदी तीर, पर्वत, उद्यान, देवालय, अथवा तीर्थ क्षेत्र स्वीकृत है। पाषाण तथा शर्करा चूर्ण को मिट्टी में संमिश्रित कर विशिष्ट विधि से उस का संस्कार करते हैं। संस्कार क्रम में मिट्टी में और भी कई वस्तु मिलाने का निर्देश हैं। समिश्रणों के साथ मिट्टी का एक निश्चित अवधि तक अधिवासन किया जाना है और उस के बाद अधिवासित मिट्टी प्रतिमोपादान द्रव्य के रूप में तैयार हो जाती है। मृद् प्रतिमा का मुख्य आधार शूल होता है। शूलस्थापन के बाद रज्जूबन्धनकर प्रतिमा का एक सामान्य आकार बनाते हैं और उस के पश्चात् मृद्लेपन का अवसर आता है। मृद्लेपन के अनन्तर प्रतिमा पुष्ट हो जाती है। मृत्प्रतिमा में वर्ण न्यास का स्थान अत्यन्त महत्व पूर्ण है। मृद् प्रतिमा पक्व तथा अपक्व रूप में दो प्रकार की कही गई है। पक्व प्रतिमा गर्हित होती है।

चित्राभास प्रतिमा सर्वदा मणियों के द्वारा निर्मित होनी चाहिए। इस की आराधना बहुबेरार्चन विधि से होती है। इस की कर्मार्चा रजत की होती है।

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में प्रतिमा कल्पन विधि वर्णन के क्रम में प्रतिमा के मुख, नासिका, चिवुक, ग्रीवाग्र, नाभिमेढ़, जंघा, मूर्द्धा, ग्रीवा जानु, गुल्फ आदि सारे अवयवों का स्पष्ट तथा वैज्ञानिक वर्णन किया गया है और उन के मान का भी निर्देश किया गया है। यहाँ स्वीकृत मान प्रक्रिया शुद्ध रूप से प्राचीन-भारतीय मान है। इस के अनुसार न्यूनतम मान अन्विति अङ्गुल है। अगुल प्रायः एक इच के समान होता है। मानांगुल, मात्रांगुल तथा देहलब्धाङ्गुल भेद से अगुल मान के तीन भेद कहें गए हैं। कुछ स्थलों में मानान्तर अगुल तथा मुष्ठ्यंगुल का भी निर्देश है। इस का परिणाम अधोलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। 8 परमाणु =1 रेणु, 8 रेणु =1 वालुका, 8 वालुका =1 रक्ष, 8 रक्ष=1 यूक, 8 यूक =1 तिल (यव), 8 यव=1 मानांगुल। मध्यमा अङ्गुल के मध्यम पर्व मान को पर्वमात्रांगुल कहते हैं। ताल गणन से विभाजित प्रतिमा के आधार पर जो अगुल मान होता है, उसे देहलब्धांगुल मान कहते हैं। अगुष्ठा के विना चार अगुलों से कल्पित मुष्ठि के चौथे भाग को मुष्ठ्यगुल कहा गया है। मानांगुल प्रमाण से आलयादि, मात्रांगुल मान से कुण्ड, कूर्चादि, देहलब्धांगुल मान से देव प्रतिमा कल्पन का विधान है। इन मानों के लक्षण सभी ग्रन्थों में कुछ साधारण भेद के बाद भी मूलतः समान है।

अगुल मान के बाद प्रतिमा कल्पन के लिए स्वीकृत मुख्य मान ताल मान है। सामान्यतः ताल का मान द्वादशांगुल परिमित होता है। प्रतिमानिर्माण क्रम में ताल-मान का प्रयोग अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट है। दशताल मान से वासुदेव मूर्ति, सार्धनव ताल मान से ब्रह्मा तथा शिव, नवताल मान से देवताओं की प्रतिमायें, सार्ध अष्ट ताल मान से द्वारस्थ कुमुदादि गण देवताओं की मूर्तियां, अष्टताल से मनुष्य प्रतिमा, सप्तताल मान से पिशाचादि प्रतिमा, षट्ताल मान से कुब्जकों की मूर्ति तथा पञ्चताल मान से वामनों की मूर्ति का कल्पन विहित है। चतुस्ताल मान से भूतों की, त्रिताल मान से किन्नरों की, द्वितालमान से मत्स्य मूर्ति की तथा एक ताल मान से पन्नगों की मूर्ति कल्पन का विधान किया गया है। दशताल मान 124 अंगुल परिमित है। इस के उत्तमममध्यमादि रूप में अनेक भेद कहे गये हैं। मुख्यरूप से ये ही मान के परिमाण कहे गये हैं। पर पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों ने इस विषय को अत्यन्त सूक्ष्मता से तथा विस्तार पूर्वक प्रतिपादित किया है।

प्रतिमा विज्ञान सम्बद्ध विषय अत्यन्त ही विशाल है, पर यहां अवकास के अभाव में उस से सम्बद्ध अति मुख्य विषयों को संक्षेप रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। विस्तार भय के कारण ही उद्धरण ग्रन्थों का निर्देश भी नहीं किया जा सका है।

डा० राघव प्रसाद चौधरी,
रीडर, विभागाध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र,
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शास्त्री नगर, जम्मू।

मिथिलाक्षर में हस्तलिखित ग्रन्थ

डॉ० उमारमणझा, डी. लिट्

प्राचीन काल से ही मिथिला संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है।[1] राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य, अष्टावक्र, सुलभा तथा सुवर्चला आदि विद्वानों तथा विदुषियों के बीच शास्त्रार्थ होता था। जनक की राजधानी मिथिला नगर में ही थी। मिथिला का प्राचीन नाम विदेह था। मैथिली (सीता) के जन्मस्थान होने के कारण विदेह का ही नाम मिथिला हो गया।[2] यह स्थान बिहार प्रान्त के उत्तर भाग में है। नेपाल का कुछ हिस्सा भी मिथिला में ही सम्मिलित था। इस मिथिला की भाषा मैथिली है और इसकी लिपि मिथिलाक्षर या तिरहुता है। मिथिला में इसी लिपि का प्रयोग होता था इसलिए इस लिपि का नाम मिथिलाक्षर हो गया। तिरहुत (तीरमुक्ति) मिथिला का ही नामान्तर है अतः तिरहुत का अक्षर तिरहुताक्षर के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने इस मैथिली भाषा तथा लिपि की प्रशंसा करते हुए लिखा है— यदि भारतीय संस्कृत एक गुलदस्ता है तो मैथिली कविता उसी का एक फूल है। वह जिस वृक्ष में विकसित हुआ है, वही मैथिली भाषा है।[4]

अभी लगभग तीन करोड़ से अधिक इसके बोलने वाले हैं। भारतवर्ष की एक प्रधानभाषा होने पर भी इसे संविधान की अष्ठमसूची में स्थान नहीं मिल सका है। मैथिली भाषा लगभग सात सौ वर्ष पुरानी है। विद्यापति इसी भाषा के विद्वान् थे। इस मैथिली भाषा की लिपि भारतीय अन्य भाषाओं से पृथक् है। यह लिपि देवनागरी से पृथक् है।

मैथिली भाषा की उत्पत्ति से पहले से ही इस अक्षर का प्रयोग होता था। यहां मिथिलाक्षर की उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैदिक भाषा से ही लौकिक संस्कृत एवं प्राकृत भाषाए विकसित होकर अलग अलग शाखा में बट गयीं। प्राकृत भाषा के भी उदीच्य, प्रतीच्य, मध्य, प्राच्य और दाक्षिणात्य भेद हुए। कुछ विद्वानों के अनुसार भगवान् गौतम बुद्ध का उपदेश प्राच्य प्राकृत में है जो बाद में चलकर मागधी और अर्धमागधी में बंट गये और कुछ काल के अनन्तर अपभ्रंश का विकास हुआ। मागधी अपभ्रंश से बिहार की बोलिया निकलीं। अर्धमागधी अपभ्रंश से मैथिली भाषा की उत्पत्ति हुई। ८वीं

शदी से १२ वीं शताब्दी तक इस भाषा का प्रारम्भिक काल माना जाता है।

पहले नाटक के स्त्रीपात्र के लिए या निम्नवर्ग के लोगों के लिए इस भाषा का लिखित प्रयोग होता था। नेपाल तथा भारत के बहुत से पुस्तकालयों में ऐसे बहुत से प्राचीन ग्रन्थ सुरक्षित हैं जहां प्राकृत भाषा के स्थान पर मैथिली भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

डा० ग्रियर्सन ने "सर्वे आफ मैथिली लीटरेचर" में लिखा है कि मिथिला की लिपि अद्भुत तथा चमत्कारपूर्ण है। १३ वीं शताब्दी में ज्योतिरीश्वरठाकुर द्वारा विरचित वर्णरत्नाकर तथा चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति द्वारा विरचित कीर्तिलता इसी भाषा तथा लिपि में समुपलब्ध होते हैं।

मिथिलाक्षर लिपि—

ललित विस्तर नामक ग्रन्थ में यह लिखा हुआ है कि भगवान् गौतमबुद्ध को ६४ लिपियों का ज्ञान कराया गया था जिसमें वैदेही लिपि भी थी। वैदेही, मिथिलाक्षर, मैथिली और तिरहुता आदि नाम मिथिला की लिपि के ही नामान्तर हैं।

गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के बाद कुटिल लिपि या सिद्धमातृका लिपि का आविष्कार हुआ। उत्तर भारत में छठी शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक इस लिपि का प्रयोग भारत में हुआ। यही कुटिल लिपि मिथिलाक्षर की भी जननी थी ऐसा विद्वानों का मत है।[5]

मिथिलाक्षर का उल्लेख सर्वप्रथम क्रोलबुक्स ने 1801 में किया।[6] इससे पहले इसका नाम तिरहुता था। प्रायः गुप्तकाल से ही वैदेही लिपितिरहुता के नाम से प्रसिद्ध है। अबुल फजल ने भी आइने अकबरी में निरहुत (मिथिला) की भाषा या लिपि को तिरहुता कहा है।[7]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आर्यों का एक जत्था माधव विदेध और उनके पुरोहित रहुगण के नेतृत्व में सरस्वती नदी के तट से सदानीरा के तट पर पहुंच गये और प्रसिद्ध विदेह राज्यवश की स्थापना की। यही विदेह की भाषा वैदेही हुई जिसकी लिपि विदेह लिपि के नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

इस लिपि के वर्णविन्यास नियम कामधेनुतन्त्र और वर्णोद्धारतन्त्र में प्रकाशित है, यह लिपि बहुत ही प्राचीन है। आसाम, बगाल, नेपाल और मिथिला में इस लिपि का अधिक प्रचार था।

डा० राजबहादुर श्यामनारायणसिंह ने History of Tirahut में लिखा है कि पहले बंगाक्षर और मिथिलाक्षर एक ही था। ६०० वर्ष प्राचीन श्रीमद्भागवत मिथिलाक्षर में लिखा हुआ दरभंगा राजपुस्तकालय में अभी भी सुरक्षित है। पक्षधर मिश्र के हाथ का लिखा हुआ विष्णु-पुराण का हस्तलिखित ग्रन्थ बिहार रिसर्च सोशाइटी पटना में अभी भी सुरक्षित है। यह लिपि बड़ी सुगमता और शीघ्रता से लिखी जा सकती है। यज्ञोपवीत विवाह तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर

इसी लिपि का प्रयोग होता था और अभी भी मिथिला में होता है।

स्व० पण्डित राजशेखर झा ने "मिथिलाक्षर के उद्भव और विकास" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मैथिली लिपि का विकास चतुर्थ शताब्धी में हुआ था। उस युग की लिपि का नाम गुप्तलिपि था। छठी शताब्दी में तन्त्र के प्रभाव से यह लिपि कुटिल लिपि कहलाने लगी।

पांचवी शदी से प्रस्थर खण्ड, ताम्रपत्र और लोहस्तम्भ पर इस लिपि का प्रयोग होने लगा जो गुप्तलिपि के नाम से प्रसिद्ध रहा। पुनः परिशोधित होकर यह कुटिल लिपि बन गई। नवमी तथा दशमी शताब्दी से काष्ठफलक तारपत्र तथा भोजपत्र पर भी इस लिपि में लिखित सामग्री मिलती है। कागज पर लिखा हुआ ग्रन्थ ११ वीं तथा १२ वीं शताब्दी या उससे बाद का उपलब्ध होता है।

इस मिथिलाक्षर लिपि में लिखे ग्रन्थ भारत के दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, मिथिला संस्कृत शोधसंस्थान, दरभंगा, जयसबाल रिसर्च शोधसस्थान, पटना. सरस्वतीभवन वाराणसी, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, एशियटिक सोशाइटी वंगाल, संस्कृत्त कालेज कलकता, नेशनल लाइब्रेरी कलकता, नेपाल लण्डन तथा अन्य स्थानों पर सुरक्षित हैं। वैयक्तिक रूप से भी मिथिला के अनेक घरों में मिथिलाक्षर में लिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। सब मिलाकर लगभग ५ लाख से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ इस लिपि में लिखा हुआ सुरक्षित है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

संरक्षण विचार—

तालपत्रों, भूर्जपत्रों तथा कागज पर लिखे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ की अनेक मूल प्रतियां काल के प्रवाह में धूप, वर्षा, कीट, जलप्लावक अग्निदाह तथा अन्यान्य कारणों से नष्ट होती गयीं। 12 वीं तथा 13 वीं शताब्दी में तुर्क तथा तेस्लिम शासकों ने नालन्दा और विक्रम शिला के बड़े बड़े पुस्तकालयों की लाखों पुस्तकें जला डाली थीं। इसलिए आनन्दतीर्थ ने महाभारत की टीका में लिखा है कि सभी ग्रन्थ ध्वस्त हो गये। अभी करोड़वां अश भी नहीं बचा है। पुस्तकालयों में भी ग्रन्थ की उचित सुरक्षा नहीं हो पा रही है। कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ विदेश भेजे जा रहे हैं।

अतः विद्वानों को हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, सग्रह तथा सरक्षण करना चाहिए।

पुस्तकों की सुरक्षा जल से, तैल से मूर्ख से, तथा लधुवन्धन से करनी चाहिए। कहा भी गया है—

तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष मूर्खाद्रक्ष तथैव च।
रक्षमामग्निधूमाच्च रक्षमां लधुवन्धनात् ॥

इन ग्रन्थों को अपने पुत्र की तरह, पत्नी की तरह और सुक्षेत्र की तरह सतत ध्यानपूर्वक रखना चाहिए। कहा भी गया है—

सपोष्यं सदपत्यवत्परकराद्रक्ष्यं च सुक्षेत्रवत्
संशोध्यं व्रणिनांगवत् प्रतिदिन वीक्ष्यैव रक्ष्यं सदा।
वध्यं बध्यवरश्लथं दृढ़गुणैः स्मयं हरेर्नामवत्
मैवं सीदति पुस्तकं खलु कदाप्येतद्गुरूणां वचः॥

किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थों का उपयोग बड़े ही ढंग से करना चाहिए। इसलिए पण्डित रामकृष्ण शास्त्री जी ने ठीक ही लिखा है—

स्वच्छं स्थलं सुगन्धिश्च स्पर्शास्पर्शविवेचनम्।
स्वाभाविकं भवेद् यत्र विहसेत् तत्र पुस्तकम्॥

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य-डा० उमारमणझा का लेख-Contribution of Mithila to Sanskrit Lit. Published in International Sanskrit Conference vol-I, part-I p. 123.

2. जाता सा यत्र सीता सरिदमलजला वाग्वती यत्र पुण्या यत्रास्ते सन्निधाने सुर नगर नदी भैरवो यत्र लिङ्गम्।
मीमांसा-न्याय-वेदाध्ययनपटुतरैर्पण्डितैर्मण्डिता या भूदेवो यत्र भूपो यजनवसुमती सास्ति मे तीरभुक्तिः॥

3. It is surrounded by the Kaushiki on the east, the Gandaki on the west, the Ganga on the south and the Himalayas on the north.
वृहद्विष्णु पुराण में भी कहा गया है—
गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदी पञ्चदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः॥

4. मिथिलाङ्क-पृ-1

5. कुटिल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम देवल के अभिलेख में मिलता है। वहां कहा गया है कि गौडदेशवासी विष्णु हरि के पुत्र तक्षादित्य कुठिलाक्षर में प्रवीण थे। द्रष्टव्य-आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया भाग-1 पृ-335

6. Asiatic Research-vol-8 p. 199

7. जेरेट द्वारा सम्पादित-भाग-3 पृ. 253

डोगरी लिपि : एक परिचय

—डॉ० चम्पा शर्मा
अध्यक्षा, डोगरी विभाग

डोगरी लिपि का मूल स्त्रोत भारतवर्ष की सबसे प्राचीन लिपि ब्राह्मी[1] की उत्तरी शैली है। ब्राह्मी लिपि की सन् 352 ई० के पश्चात् दो शैलियां हो गईं। (1) उत्तरी शैली एवं (2) दक्षिणी शैली। उत्तरी शैली से ही उत्तरी भारत में प्रचलित होने वाली लिपियों का जन्म हुआ। श्री गौरी शंकर हीरानद ओझा के अनुसार ब्राह्मी की उत्तरी शैली से जो पांच लिपियां विकसित हुईं वे हैं—(1) गुप्त लिपि (2) कुटिल लिपि (3) नागरी लिपि (4) बंगला लिपि एवं (5) शारदा लिपि। शारदा से टाकरी लिपि का विकास हुआ और टाकरी से 'डोगरी लिपि' विकसित हुई। डॉ० भोलानाथ तिवारी[2] के अनुसार ग्रियर्सन ने टाकरी लिपि को (नई) शारदा एवं लंडा लिपियों की बहन माना है परन्तु बूलर ने इसे शारदा की पुत्री कहा है। गौरीशंकर हीराचद ओझा टाकरी को शारदा का घसीट रूप[3] मानते हैं क्योंकि इसके इ, ई, उ, ए, ग, घ, च, ज, ड, ढ, त, थ द, ध, प, भ, म, य, र, ल, और ह अक्षर वर्तमान शारदा से मिलते हैं। शारदा का प्रयोग काश्मीर (शारदा देश) एवं पंजाब में होता रहा और इसी से वर्तमान शारदा, टाकरी, लंडा, गुरूमुखी, चमेआली, मंडेआली, जौनसरी, कोछी, कश्टवारी आदि लिपियों का विकास माना जाता है।[4] टाकरी जम्मू तथा पंजाब के उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में (शिमला ज़िला को छोड़कर) कुछ-२ भिन्नता लिए प्रचलित हुई। इसका जो रूप जम्मू भूभाग में प्रचलित था उसको 'डोगरा अक्खर' और जो रूप चंबा में चलता था, उसे 'चमेआली' कहा जाता था। उक्तलिपि के 'टाकरी' नाम के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि टांक (लबाणा) जाति के व्यापारियों द्वारा वही-खातों में इस लिपि का प्रयोग किये जाने के कारण इसका टाकरी नाम चल पड़ा होगा। एक अन्य मत के अनुसार ठाकुर (डोगरी ठक्कर) राजपूतों द्वारा व्यवहार में लाए जाने के कारण इसका टाकरी नाम प्रचलित हुआ होगा। इसमें स्वरों की मात्राओं का प्रयोग नहीं किया जाता था, उनके स्थान पर मूल स्वर ही लिख दिए जाते थे। डोगरी लिपि का यह रूप डोगरा महाराजा रणबीर सिंह के शासनकाल (सन् 1856–1885 ई०) से पूर्व प्रचलित रहा। डोगरी लिपि का सबसे प्राचीन लिखित प्रमाण वह लघु लेख है जो तहसील बसोहली के महानपुर नगर में जगदम्बा के मन्दिर की भीतरी दीवार पर लिखा गया मिला है। इस लेख पर विक्रमी संवत् 1583 लिखा है अर्थात्–1526 ई०। इसके अलावा डोगरी लिपि में लिखे गए कुछ इतिहासिक पत्र एवं राजकीय सन्धिपत्र मिलते हैं जिन पर दिए गए

17 वीं शताब्दी के मध्य के समय का ज्ञान होता है। ये पत्रादि इस बात का भी साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि सतारहवीं सदी के मध्य तक डोगरी-चमेग्राली का प्रयोग, न केवल साधारण जनता में ही अपितु राजाओं एव उनके अधिकारियों द्वारा भी, किया जाने लगा था। यह प्राचीन डोगरी का समय था।

वर्तमान डोगरी लिपि का स्वर्णिम युग वस्तुतः महा० रणबीर सिंह का शासन काल था। फ्रैड्रिक ड्यू, जो महा० के राज्यकाल में यहां लगभग दस वर्ष (1862-1872 ई०) तक रहे, लिखते हैं कि महाराजा साहिब ने डोगरी लिपि को सुगम बनाने के लिए एवं इसे देवनागरी लिपि के निकट लाने के लिए प्राचीन डोगरी लिपि में सुधार करवाया।[5] फलस्वरूप डोगरी लिपि की नयी वर्णमाला तैयार करवाई गई।

श्री बलदेव प्रसाद शर्मा ने अपने एक लेख में डोगरी लिपि के महा० रणबीर सिंह के काल में प्रचलन विषयक जानकारी दी है।[6] उक्त लेख अनुसार रणबीर सिंह के समय में कुछ पुस्तकों के डोगरी लिपि में मुद्रण के अलावा, डाकटिकटों अदालतों में प्रयुक्त सन्धिपत्रों, सिक्कों (पांच, दस, सों रुपयों के सिक्के) पर फारसी लिपि के साथ-२ डोगरी लिपि के प्रयोग किए जाने का उल्लेख किया है। महा० रणबीर सिंह ने बहुत सी संस्कृत, पजाबी, उर्दू, आदि भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का डोगरी लिपि में लिप्यंत्रण करवाया।[7] इस लिपि के लिए 'द्विगर्त अक्खर' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। महा० रणबीर सिंह के समय में जम्मू में 'विद्याविलास प्रैस एवं 'रघुनाथ जी' प्रैस के पास डोगरी का अपना टाइप भी था जिसमें कुछ पुस्तकों जैसे लीलावती, व्यवहारगीता, रणबीर चिकित्सा-सुधासार विष्णु सहस्रनाम, गीता, वाल्मीकि रामायण का बाल काण्ड, धातुरूपावली, धनञ्जय नाटक, मस्कटरी रैंगूलेशन एवं कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं। रघुनाथ पाठशाला में विद्यार्थियों को डोगरी लिपि में प्रकाशित पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। 'विद्यार्थियों की प्रथम पुस्तक' नाम पुस्तक भी डोगरी लिपि में थी।

सभी सरकारी कार्यों एवं प्राइवेट वहीखातों में लिखाई डोगरी लिपि में ही होता थी।[8] बलौरिया के अनुसार महा० गुलाब सिंह के राज्यकाल (1822 ई० 1855 ई०) में सारा कार्य डोगरी भाषा एवं डोगरी लिपि में होता था। डोगरी लिपि को उस समय **पराने डोगरे अक्खर** अथवा केवल **पराने डोगरे** वी कहा जाता था। इसमें मात्रा चिन्ह नहीं थे।

महा० रणबीर सिंह ने सरकारी अधिकारियों के लिए इस लिपि को जानना आवश्यक घोषित कर दिया। जो कोई राजकीय कर्मचारी डोगरी लिपि नहीं जानता था उसके वेतन से 10 प्रतिशत की कटौती कर ली जाती थी। जनता प्रार्थना पत्र डोगरी में देती थी डाकमोहरों पर डोगरी अक्षर अंकित होते थे। राजा की ओर से आयोजित बैठकों की कार्यवाही को डोगरी लिपि में लिखा जाता था। यह सब होते हुए भी डोगरी लिपि का कार्यालयों में प्रयोग महा० के निधन के कुछ समय बाद ही बन्द हो गया और अदालतों में इसका स्थान उर्दू ने ले लिया। उसके पश्चात् भी व्यापार के

कार्यों के लिए इसका प्रयोग चलता रहा। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरु की देवनागरी को अपनाने की अपील पर देवनागरी लिपि अपनाने विषयक जनमत इक्ट्ठा किया गया और राष्ट्रीय हितों के देखते हुए डोगरी लिखने के लिए देवनागरी लिपि को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इसे अपनाने से डोगरी वर्णमाला की ध्वनियों को अभिव्यक्त करने में प्रारम्भ में कुछ कठिनाई भले ही आती रही पर इसमें डोगरी भाषा को जो महत्वपूर्ण लाभ पहुंचा वह था इसका सीमित क्षेत्र (जम्मू प्रान्त) से निकल कर व्यापक क्षेत्र को प्राप्त करना। आज डोगरी साहित्य मराठी साहित्य आदि की भान्ति भारत के देवनागरी जानने वाले सभी प्रदेशों में पढ़ा एवं समझा जाता है।

सन्दर्भ

1. श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा: भारतीय प्राचीन लिपिमाला-प्रकाशक : मुन्शीराम मनोहर लाल नई दिल्ली (Third Ed. 1982 A.D.)
2. हिन्दी भाषा पृष्ठ 318-319
3. श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा: भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृष्ठ 129
4. भोलानाथ तिवारी: भाशा-विज्ञान ते डोगरी हिन्दी भाषा (सन् 966 ई०) पृष्ठ : 318-319
5. Fredrick, Drew : The Jammu & Kashmir Territories Page 471
6 डोगरी फुलवाड़ी : जनवरी 1975 अंक में प्रकाशित
7. काहनसिंह वलौरिया : तारीख राजगान जम्मू व कश्मीर : पृष्ठ 34